

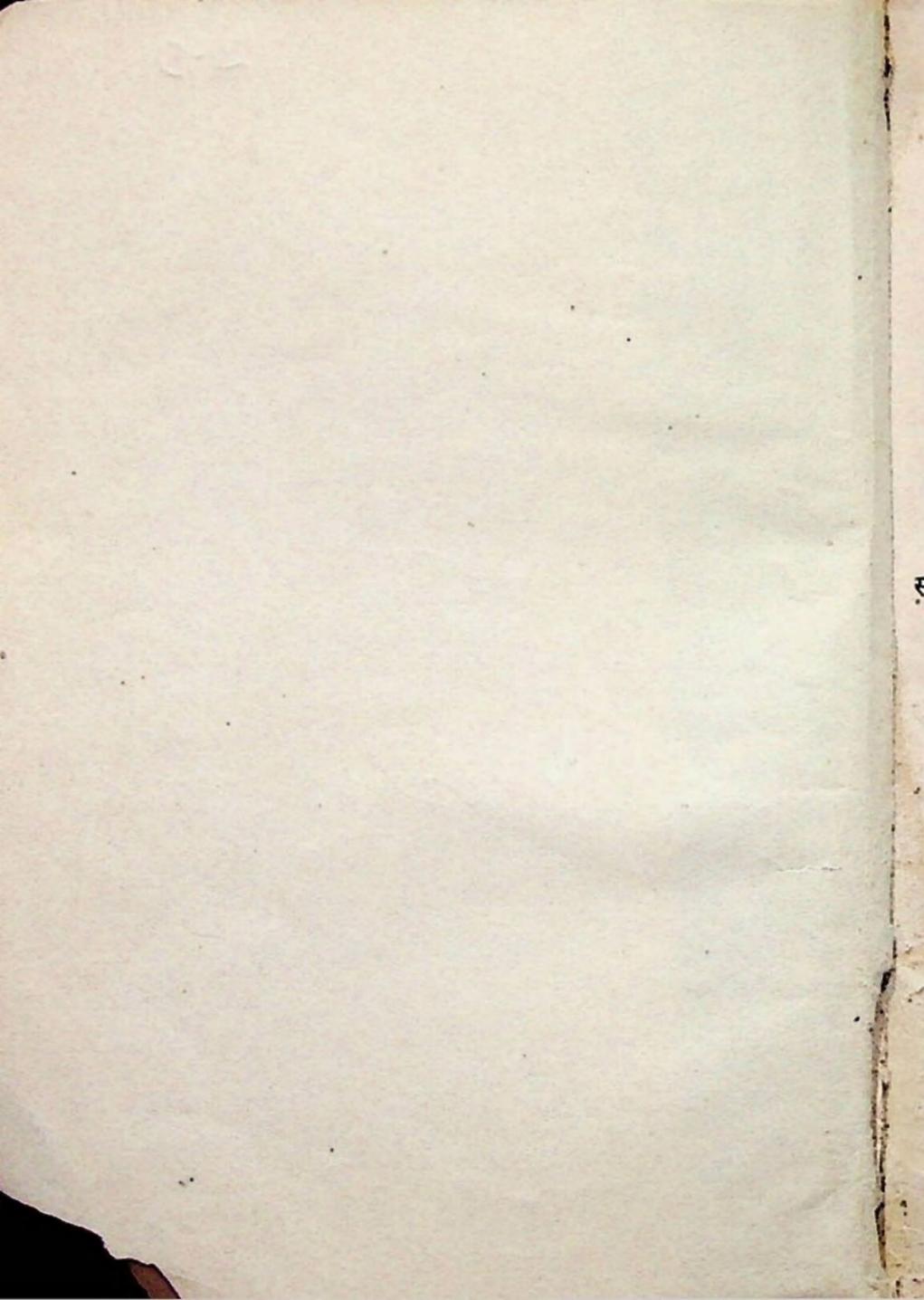
बाबूलाल शुक्ल शास्त्री

गरमज्जारी सहकर्

शविद्यालय प्रकाशन, वाराण्सी



3.S



श्री विश्वेश्वर-पाण्डेय प्रणीतं

शृङ्खारमञ्जरी सटुकम्

म्पादकः, संस्कृतच्छायाकारः, प्रस्तावनादिलेखकः हिन्दीव्याख्याकारश्च

प्राध्यापक श्री बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

एम० ए०, साहित्याचार्य प्रभृति

स्नातकोत्तर संस्कृत अध्यापन एवं संशोध विभाग

शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय

इन्दौर (म० प्र०)

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

प्रथम संस्करण १९७८ ई०

मूल्य : बीस रुपये

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी-१

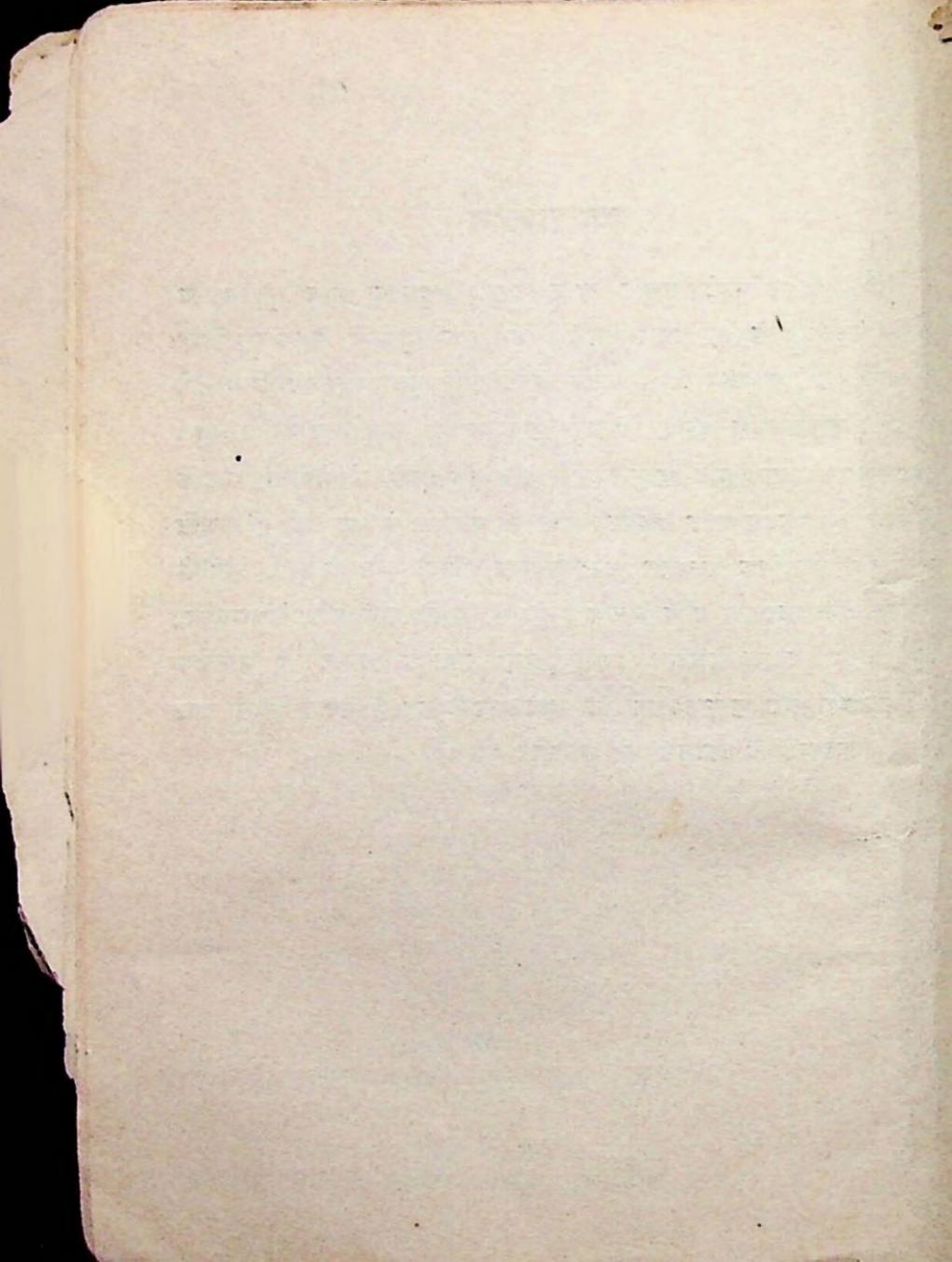
मुद्रक

शिवलाल प्रिन्टर्स, नायक बाजार, वाराणसी-१

प्रकाशकीय

श्री विश्वेश्वर पाण्डेय प्रणीत शृङ्खारमञ्चरी सटुक को आज सुधीजन के हाथों में प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष है। अभी तक सटुकों में केवल राजशेखर की कर्मचारी हो प्राप्य रही। उसके अच्छे तथा सुलभ संस्करण मिल जाने से प्रायः प्राकृतभाषा के अध्ययन में कर्मचारी हो प्राप्य रही। उसके अच्छे तथा सुलभ संस्करण मिल जाने से प्रायः प्राकृतभाषा के अध्ययन में कर्मचारी हो प्राप्य रही। सम्भवति इसका एक प्रामाणिक संस्करण संस्कृतच्छाया, हिन्दी व्याख्या तथा उपयोगी प्रस्तावना तथा शब्दकोश आदि के साथ प्रस्तुत है, जिससे प्राकृतभाषा के अध्ययन, अनुशीलन को बढ़ावा मिलेगा। आशा है प्राकृतभाषा के अध्ययन में भारतीय विश्वविद्यालयों द्वारा शृङ्खारमञ्चरी को पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में स्थान मिलेगा तथा अप्राप्य प्राकृतग्रन्थों के प्रकाशकों को प्रोत्साहन भी।





प्रस्तावना

विश्वेश्वर पाण्डेय संस्कृत साहित्य के चतुरस रचनाकार के रूप में अतिशय प्रसिद्ध रहे हैं। संस्कृत के व्याकरण शास्त्र से लेकर तर्क तथा अलङ्कार शास्त्र तक पर अनेक ग्रन्थों की रचना के अतिरिक्त उनने काव्य तथा नाटकादि की भी प्रचुर रचनाएँ कीं एवं शास्त्र तथा साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में अपना अभिनव कीर्तिमान भी स्वापित किया। प्राकृत भाषा की नाट्य-रचना में राजशोखर कृत कर्पूरमञ्जरी-सट्टक की ही सर्वत्र उपलब्धि रहने के कारण उसी का प्रचार एवं अध्ययनादि होता रहता है, यद्यपि सट्टकों के नमूनों की चर्चा तथा तीन सट्टकों की तो (कर्पूरमञ्जरी के अतिरिक्त) पूर्णतः उपलब्धि हो चुकी है। इन उपलब्धि सट्टकों में विश्वेश्वर पाण्डेय प्रणीत शृङ्खारमञ्जरी सट्टक भी है, जिसका संस्कृतच्छाया तथा हिन्दी व्याख्यामय अनुवाद के साथ ही आज यह संस्करण प्रस्तुत करते हुए सन्तोष का अनुभव हो रहा है। इसका कारण भी स्पष्ट है कि यदि कुछ प्राप्य अन्य सट्टकों के भी इसी प्रकार संस्करण निकाले जाएं तो एक तो नाट्य की इस विधा के कर्पूरमञ्जरों के साथ तथा स्वतन्त्र रूप में अध्ययन को बढ़ावा मिलेगा, साथ ही सट्टकों का अध्ययन का क्षेत्र भी विस्तीर्ण हो कर प्राकृत भाषा के अध्ययन के नये क्षितिज प्रकट करेगा।

शृङ्खारमञ्जरी सट्टक के प्रस्तुत संस्करण को मूलपाठ के सम्पादन एवं संस्कृतच्छाया तथा हिन्दी रूपान्तर के साथ सर्वप्रथम प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसका आधार भण्डारकर शोध संस्थान पूना के हस्तलिखित ग्रन्थागार में विद्यमान दो मातृकाएँ हैं। इनका विवरण संक्षेप में इस प्रकार है :—

(१) ग्रन्थ-क्रमांक ४३५ (जो वर्ष १८९२-९५ में) है। ग्रन्थ की पत्र-संख्या २८ है तथा देवनागरी अक्षरों में लिखित है। ग्रन्थ का लेखनकाल ग्रन्थकार के समय का है। यह शके १६३९ वैशाख कृष्ण ८ रविवार को खत्ता ग्राम में शिवराम के द्वारा लिखी गयी थी, जिसमें खत्ता ग्राम का स्थानादि विवरण अज्ञात है।

(२) दूसरी मातृका का ग्रन्थ-क्रमांक ८१० है (जो वर्ष १८८६-९२ में है) । यह थोड़ी नवीन है । इसमें पत्र-संख्या १५ है तथा देवनागरी अक्षरों में लिखित है, जिसमें लेखन वर्ष नहीं है तथा यही प्रतीत होता है कि यह उपर्युक्त ग्रन्थ की एक प्रतिलिपि है । इसकी किसी लक्ष्मीनारायण गोस्वामी ने प्रतिलिपि की थी, जो विवरण से स्पष्ट है । उपर्युक्त दो हस्तलिखित प्रतियों से मूल का सम्पादन प्रकृत सम्पादक ने सावधानी से कर उसे स्वयंकृत संस्कृतच्छाया, हिन्दी अनुवाद आदि से युक्त करते हुए प्रस्तुत किया है । इसका पूर्व सम्पादन मूलमात्र का थी डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने भी किया था तथा इसका प्रकाशन Journal of the University of Poona : Humanity Section-1960 में हुआ था । इसका भी अवलोकन करते हुए सावधानी से मूल प्राकृत पाठ्य को इस संस्करण में रखा गया है । अतः प्रकृत ग्रन्थ को इस रूप में लाने में डॉ० उपाध्ये के इस संस्करण ने भी पर्याप्त सहायता प्रदान की है ।

पूना की हस्तलिखित प्रतियों में कुछ स्थानों पर हाशिये में संस्कृतच्छाया के कुछ शब्दों के संकेत मिलते हैं, जिनसे पर्याप्त सहायता मिली, फिर भी मैंने समग्र ग्रन्थ की संस्कृतच्छाया वड़े ही मनोयोग से प्रथम बार प्रस्तुत कर साथ में हिन्दी अनुवाद भी दे दिया है । अन्त में उपयोगी प्राकृत शब्दों की सूची भी दी गयी है, जिससे अनुशीलन-कर्त्ताओं तथा अध्येताओं को पर्याप्त सहायता मिलेगी, ऐसी आशा है ।



विश्वेश्वर पाण्डेय—जीवन-परिचय तथा रचनाएँ

वंशगौरव एवं वंश-परम्परा

‘विश्वेश्वर पाण्डेय कूर्मचिल के अल्मोड़ा नगर के समीपवर्ती पाटिया ग्राम के मूल निवासी थे। कूर्मचिल छोटा प्रदेश होकर भी इसकी प्रसिद्धि इसी बात में अधिक रही कि यहाँ संस्कृत विद्वानों की विशिष्ट परम्परा बनी रही। कूर्मचिल इस समय अल्मोड़ा, नैनीताल तथा पिठोरागढ़ ज़िलों में है, जो अंग्रेजी राज्य के समय कुमाऊँ कमिश्नरी बना कर उसमें देहरादून ज़िला मिला दिया गया था, पर वस्तुतः उपर्युक्त तीनों ज़िले ही कूर्मचिल कहलाते हैं। पाटिया के पाण्डेय वंशीय विद्वानों को कूर्मचिल के चन्दवंशीय शासकों के गुरु होने का गौरव प्राप्त रहा तथा इस वंश में विद्वानों की परम्परा कुलागत रही थी। इनका गोत्र भारदाज था तथा इस वंश के पूर्व-पुरुष श्रीवल्लभ पाण्डेय कान्यकुञ्ज से कूर्मचिल आये थे, जिसके बारे में वंशावली में विवरण भी प्राप्त है।^१ तदनुसार खारे ग्राम से श्रीवल्लभजी कूर्मचिल आये थे। खारे ग्राम हसुआ से दस मील दूर गंगा के तट पर था। इसमें चार माई रहते थे, इन्हों के कनिष्ठउम वन्यु श्रीवल्लभजी थे। श्रीवल्लभजी धुरन्थर विद्वान् तथा तान्त्रिक भी थे। इसका विवरण भी प्रामाणिक रूप में प्राप्त होता है।^२ तदनुसार ये चन्दवंशी कूर्मचिल-महीप के राजगुरु थे तथा एक बार कालीमाटी पर्वत में लकड़ी न मिलने पर राजा के भंडार में विद्यमान लोहे का ही एक उपासना में अपेक्षित रहने पर हवन कुड़ में होम कर डाला था। कहते हैं कि तभी से वहाँ की मिट्टी काली हो गयी तथा जिस शाखा ने इस लोहे का यजमान बनकर हवन किया, वह लौहहोमी या लोहनी कही गयी थी। इसके अतिरिक्त श्रीवल्लभजी पाण्डेय को जागीर में ३ ग्राम भी प्राप्त थे।^३ इनके कूर्मचिल आने के समय वहाँ प्रतापी राजा रुद्रचन्द्रदेव का शासन चल रहा था। ऐतिहासिक

१. श्री खारे ग्रामवास्तव्यः कान्यकुञ्जकुलाग्रणोः ।

श्रीवल्लभः समायातः कूर्मद्वौ गणपर्वते ॥

२. दृष्ट० अठकिसन गजेटियर, जिल्द १२; पृष्ठ ४२५-२६ ।

३. इनके नाम हैं—सत्राली, धापला तथा कोहना ।

आधारों के अनुसार प्रतापी राजा रुद्रचन्द्र देव का राज्याधिरोहण ५० सन् १५६८ में हुआ था । उस समय राजा की अवस्था छोटी ही थी । उस समय दिल्ली के सूबा ने तराई भावर लेने का उद्योग किया, जिसे महादेव के भूमिस्थ रहने के कारण आयी विपत्ति समझ राजा ने उस मन्दिर की मरम्मत करवायी तथा इसी से उस पर मंडराने वाला तत्कालीन संकट टल गया था ।

इसी प्रकार एक अन्य चमत्कार का भी उल्लेख मिलता है कि सत्राली के जिस स्थान में श्रीवल्लभजी रहते थे, वहाँ से पानी दूर था तथा पूजा आदि कार्यों के लिए उनकी पत्नी को दूर से पानी लाना पड़ता था । एक दिन थक जाने के कारण उनकी पत्नी पानी के वर्तन को जब मस्तक पर रख कर ला रही थी तो इसे देखकर श्रीवल्लभजी रुष्ट हो गये तथा बोले कि मस्तक पर पानी रख कर लाने से पूजा का पानी अशुद्ध हो जाता है । इस पर उनकी पत्नी ने कहा कि यदि ऐसा ही हो तो आप यहाँ मन्त्रवल से वयों नहीं पानी उत्पन्न कर लेते ? इतना सुनकर पाण्डेय जी ने वहाँ उगो हुई कुशा उखाड़ी तो तत्काल वहाँ पानी निकल आया जो अभी तक श्रीवल्लभजी के घारे के नाम से जाना जाता है ।

चंद्रवंशी राजाओं ने इनके वंशधर विद्वानों को राजगुरु बनाये रखा तथा अल्मोड़ा के पाटिया ग्राम को जागीर में दिया, तभी से ये पाटिया, कमून, पिलिख आदि स्थानों में रहने लगे तथा अपने ग्राम पाटिया के नाम से जाने जाते रहे । कालान्तर में कुछ विद्वान् अनूपशहर में जा कर बस गये । इनकी वंशावली भी प्राप्त है जो इनके वंशधरों के संग्रह में विद्यमान है । तदनुसार श्रीगजावरजी इस वंश के मूलपुरुष थे, जिनके चार पुत्र थे—देवदत्त, हरिदत्त, शम्भुदेव, तथा श्रीवल्लभ । इनमें अन्तिम श्रीवल्लभ जी कूर्माचिल आये, जिनकी वंशावली में इनके पुत्र पद्मदेव तथा इनके पुत्र थे भवदेव, उनके विष्णुदेव तथा विष्णुदेव के मधुसूदन, मधुसूदन के जगन्नाथ तथा जगन्नाथ के महेश्वर, महेश्वर के वैकुण्ठ, वैकुण्ठ के विणि, विणि के भरत तथा भरत के नारायण हुए । इन्हों नारायण के तीन पुत्र थे—विश्वेश्वर, रामेश्वर तथा लक्ष्मीधर । इनमें लक्ष्मीधर के तीन पुत्र थे—महानन्द, विश्वेश्वर, तथा उमापति (ये विश्वेश्वर ही हमारे प्रस्तुत सट्टक के रचयिता हैं) ।

१. श्रीविश्वेश्वर पाण्डेय के उत्तरभावी वंश की छः पुरुषों की वंशावली भी उपलब्ध है । तदनुसार श्री विश्वेश्वर के पुत्र जयकृष्ण थे, इनके पुत्र जीवनाथ, जीवनाथ के पुत्र गंगेश्वर

जन्म तथा अध्ययन

विश्वेश्वर के पिता लक्ष्मीधर जो सपत्नीक अपने आवास से काशी आये तथा पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से यह दम्पति तीन वर्ष तक मणिकणिका घाट पर कोटि शिवार्चन विधि सम्पन्न करती रही। जब यह विधि पूर्ण हुई तो उसके बाद सात मास के अनन्तर इन्हें पुत्ररत्न की उपलक्ष्मि हुई, जिसका नाम भी विश्वनाथ की कृपा से प्राप्त होने के कारण विश्वेश्वर रखा गया। इस प्रकार विश्वेश्वर पाण्डेय का जन्म काशी में ही हुआ। पुत्र के स्नेहपूर्ण लालन-पालन के बाद पाँच वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत संस्कार किया गया तथा अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा को भी स्वयं पिता लक्ष्मीधर ने ही सम्पन्न किया। विश्वेश्वर पाण्डेय ने अपने सभी ग्रन्थों में अपने पिताजी की ही गुरुरूप में इसी कारण वन्दना तथा स्तुति की है। पण्डित लक्ष्मीधर का दूरस्थ कूर्माचल से पुत्राभाव के नैराश्य से काशी आकर रहने की स्थिति स्वीकार कर लेना संस्कृत साहित्य के लिए हितकारी तथा महत्वपूर्ण हो गया। बालक विश्वेश्वर ने अपनी बुद्धि से अपने पिता तथा काशी के अनेक गुरुजन को घमत्कृत कर दिया। इन्हे अपने पिता के अतिरिक्त अपने बड़े चचेरे भाई तथा विश्वरूपात्मज यशोधर पाण्डेय से भी शास्त्रों का अध्ययन किया था। एक समय ये नैषध पढ़ते समय ही उसकी छिपकर टीका भी लिखते थे। एक बार यशोधर जी ने छिपकर टीका लिखते समय इन्हें देव लिया था, जिससे सारे रहस्य का पता भी चला तथा इनके विलक्षण ज्ञान से सभी को आश्र्य भी हुआ। यह इतने मेंधारी थे कि दस वर्ष की अवस्था से ही ग्रन्थों का लेखन आरम्भ कर दिया था तथा जीवन की ४० वीं शरद में इनका इस नश्वर जगत् से सम्बन्ध ही न रह पाया। इन विवरणों से इनका स्थिति-काल भट्टोजी दीक्षित के जीवन के उत्तरार्ध का समसामयिक तथा उन्हीं के पौत्र हरिदीक्षित का समकालिक रहा। ऐसा भी सुना जाता है कि हरिदीक्षित का इनसे शास्त्रार्थ भी हुआ था तथा हरिदीक्षित पराजित हो गये थे। ऐसा भी सुना जाता है कि इस घटना

अपर नाम गङ्गाधर हुए, जिनके पुत्र भुवनेश्वर थे। भुवनेश्वर के पुत्र मुनीश्वर हुए तथा उनके पुत्र देवेश्वर अपर नाम चुन्नीलाल थे। चुन्नीलाल के पदचात् वंश का यह क्रम बन्द हो गया। चुन्नीलाल की पत्नी ने एक दत्तक पुत्र अवश्य लिया, किन्तु बाद में वह भी घर छोड़कर चला गया तथा इस वंश-क्रम में तभी से पूर्णविराम लग गया।

के बाद इन्होंने अपने सुप्रसिद्ध व्याकरण-ग्रन्थ वैयाकरणसिद्धान्तसुधानिधि का लेखन आगे बन्द कर दिया। इनके छोटे भाई उमापति पाण्डेय थे, जिनका उल्लेख इन्हों के द्वारा हुआ है। विश्वेश्वर जी के पुत्र जयकृष्ण हुए तथा इसी क्रम में अन्तिम वंशघर देवेश्वर उपनाम चुन्नीलाल हुए जो अनूपशहर में ई० सन् १९१० में विद्यमान थे। देवेश्वर जी को पत्नी ने एक पुत्र दत्तक भी रखा था, किन्तु दुर्भाग्यवश इनका वंश वहाँ समाप्त हो गया। इनके घर में विद्यमान अनेक ग्रन्थों को हरिद्वार में गंगा की धारा में अन्त में स्थान मिला, जिसने विश्वेश्वर पाण्डेय के कर्तृत्व के अनेक प्रमाणों को भी अपने साथ ही समाप्त कर डाला।

स्थितिकाल

सर्वतोमुखी पाण्डित्य तथा प्रचुर रचनाओं के कर्तृत्व से मणिडत विश्वेश्वर पाण्डेय ऐसे मौलिक ग्रन्थकार थे, जिनने अपने ग्रन्थों से संस्कृत साहित्य की चिर नवीनता को सुरक्षित किया था। प्रमाणों की आन्तरिक पीठिका को आधार बनाने से स्पष्टतः इनका स्थितिकाल ईसवी की अठारहवीं शती का प्रथम चरण निश्चित होता है। इन प्रमाणों को ध्यान से देखने पर इनकी रसमङ्गरी की टीका इन्हों के पुत्र जयकृष्ण ने^१ शाके १६३४ तदनुसार ई० १७१२ में लिपिवद्ध की थी। विश्वेश्वर जी की नैषध-चरित की टीका की प्रतियों में शाके १६३३ तथा १६३८ अंकित हैं। नैषध टीका को एक प्रति को परशुराम ने लिखा था, जो इनका पुत्र था^२। शृङ्गारमंजरी सटूक की पूना स्थित हस्तलिखित एक प्रति का लेखनकाल शकवत्सर १६३९ (ई० सन् १७१६-१७) है।^३ इन प्रमाणों से स्पष्ट ही है कि विश्वेश्वर पाण्डेय का स्थितिकाल अठारहवीं शती का प्रथम चरण है तथा आविभाविकाल सत्रहवीं शती का अन्तिम चरण। इनके द्वारा स्वप्रणीत

१. दिग्गुणतुं-शशलाच्छनयुक्ते शालिवाहनशके जयकृष्णः। श्रावणीयसितपक्षदशम्यादिमिति पितृरिमां विलिलेख ॥ पुष्पिका पद्य ।
२. अस्मिन् व्याकरणत्रयीरसरसासंख्याः समाविभ्रति श्रीहालस्य शकेऽधिपञ्चमि सहो-मासस्य पक्षे सिते । श्रीहर्षोक्तिषु नैषधीय चरिते भावप्रदीपे कृति श्रीतात्म-प्रिय-सरोरुहां प्रथयितुं द्राक् पशुंरामोऽलिखत् ॥ सरस्वती भवन, हस्त० प्रति पुष्पिका ।
३. द्रष्टव्य—भंडारकर हस्तलेख सं० 435 of 1892-95 ।

अलङ्कार-कौस्तुभ^१ ग्रन्थ में पण्डितराज जगन्नाथ के मतों की चर्चा तथा समीक्षा रहने से उनके कुछ ही समय के पश्चात् होनेवाले विश्वेश्वर पाण्डेय का स्थिति-काल उपर्युक्त ही निर्धारित होता है। अपने को वे कूर्मचिलवासी कहते हुए गौरवशाली भी मानते थे तथा उन्हीं ने स्वयं 'कूर्मचिल चक्रवर्ति गुरु' कह कर अपनी कुल-परम्परा तथा जन्मभूमि के गौरवपूर्ण ही संकेत दिये हैं।

शास्त्र-पाण्डित्य एवं रचनाएँ

विश्वेश्वर पाण्डेय के रचित ग्रन्थों का क्षेत्र अतिशय विस्तीर्ण था। इनके ग्रन्थों के विषय मुख्यतः काव्य, साहित्यशास्त्र, व्याकरण, न्याय, धर्मशास्त्र तथा तन्त्र थे। केवल ज्योतिषशास्त्र पर इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, कदाचित् वह भी लिखा हो, किन्तु वाद में सुरक्षित न रहने से अप्राप्य हो गया हो, परन्तु सबसे विशेष बात यह हुई कि साहित्य-शास्त्र तथा काव्य के किसी अंग को इनने छोड़ा नहीं तथा लक्षणग्रन्थों तथा लक्ष्य ग्रन्थों की पर्याप्त मनोयोग से रचना भी की थी। नाट्यविधा में तो इनने नाटक, नाटिका तथा सटूक को रचना की तथा अपनी प्राकृत भाषा-विषयक विद्वत्ता तथा प्राकृत-ग्रन्थ-प्रणयन-क्षमता का पर्याप्त परिचय दिया। काव्य के विविध रूपों के अन्तर्गत महाकाव्य, मुक्तक तथा गद्यकाव्य पर इनका समान अधिकार था तथा काव्यशास्त्रीय लक्षण ग्रन्थों की रचना कर इनने अपने को (इस क्रम में भी) मूर्धन्य आचार्यों की पंक्ति में विठा दिया था। व्याकरण तथा न्यायशास्त्र इनके पाण्डित्य के विशाल कीर्तिस्तम्भ बने, जिन पर इनके ग्रन्थ-प्रासाद की रचना हुई थी।

इनके लिखे गये ग्रन्थों की एक तालिका आफेह्ट ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'केटलौंगस कॅटलागरम्' में प्रकाशित की है, सदनुसार इनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

- (१) अलङ्कार-कौस्तुभ—स्वप्रणीत टीका समेत, (२) अलङ्कार-मुक्तावली, (३) आर्यासिसशती—सटीक, (४) अलङ्कार (कुल)-प्रदोष,
- (५) आशोधीय दशश्लोक विवृति, (६) कवीन्द्रकणभिरण, (७) काव्यतिलक,
- (८) काव्यरत्न, (९) तत्त्वचिन्तामणि दीघिति-प्रवेश, (१०) तर्ककुत्तहल;

१. द्रष्टव्य—अलंकार-कौस्तुभ—निर्णय सागर संस्करण के पृष्ठ २४ तथा आगे भी पृष्ठ ४६ तथा ३३८, ३३६ आदि अनेक स्थानों पर।

(११) भारागद्वयनाम व्याख्या अभिभाव्य-चिन्मार्गि, (१२) नवपालिका—
नाटिका, (१३) नैपथ दीका भाष्यप्रबोधिनी, (१४) मन्दारमङ्गरी—कथा
(मथ), (१५) रमचन्द्रिका, (१६) रममङ्गरी दीका, (१७) रोमावली
शतकम्, (१८) लक्ष्मीविलासः, (१९) वक्षोजयातकम्, (२०) शृङ्गारमङ्गरी-
मटुकम्, (२१) पट्टकृत्तुवर्णन, (२२) वैद्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि तथा (२३)
द्वौलिका-शतकम् । इसके अतिरिक्त इनने दक्षिमर्णीकल्याण नाटक की भी रचना
की थी, जिसका उल्लेख अलङ्कार-कोस्तुभ में हुआ है । इतना हीने पर भी कूर्माचिल
देश में इनके ग्रन्थों की कोई हस्त-लिखित प्रतियाँ नहीं मिलीं, कदाचित् कई
अज्ञात लेख गंगाजी की गोद में अनूपशहर के इनके बंदोज्जों द्वारा भेज देने से
यह स्थिति बनी हो, किन्तु किर भी वाराणसी के संस्कृत विश्वविद्यालय, नद्रास
शासकीय हस्तलिखित ग्रन्थागार, पूना के भैंडारकर प्राच्यविद्या-संस्थान तथा
नेपाल के राष्ट्रीय ग्रन्थागार में इनके ग्रन्थों की कई हस्तलिखित प्रतियाँ दिव्यमान
हैं । इसके अतिरिक्त काशी में ही प्राच्यावक श्रीगणेशादत्तशास्त्री के निजी ग्रन्थालय
में तथा नेपाल के राजगुरु श्री हेमराज जी के निजी पुस्तकालय में भी कुछ ग्रन्थों
की प्रतिलिपियाँ तथा हस्तलेख उपलब्ध हैं, ऐसा ज्ञात हुआ है ।

विश्वेश्वर पाण्डेय की इन रचनाओं में से अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका
है तथा अनेक ग्रन्थ प्रकाशन की प्रतीक्षा में पुस्तकालयों तथा हस्तलिखित
ग्रन्थागारों में रखे हुए हैं । प्रकाशित एवं ज्ञात ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण यहाँ
प्रस्तुत किया जा रहा है ।

(१) अलङ्कार-कोस्तुभ—अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थों में विश्वेश्वर पाण्डेय के
गहन शास्त्रानुशीलन का यदि कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, तो वह है अलङ्कार-
कोस्तुभ । काव्य तथा अलङ्कार विषय पर पण्डितराज जगन्नाथ के बाद इसी में
विस्तीर्ण एवं मौलिक विचार किया गया है । इसी एक ग्रन्थ के आधार पर
पण्डितराज के बाद अलङ्कारशास्त्र की आचार्य कोटि में विश्वेश्वर पाण्डेय रखे
जा सकते हैं । इस ग्रन्थ की अतिशय पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या भी स्वयं ग्रन्थकार ने
ही लिखी थी, जो पूर्ण ग्रन्थ पर उपलब्ध नहीं होती, किन्तु मूल ग्रन्थ पूर्ण है ।
निर्णयसागर प्रेस बम्बई की काव्यमाला में इस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ था, जिसकी
प्राप्ति सम्प्रति नहीं होती तथा जिसका पुनः सम्पादन एवं संशोधन होकर प्रकाशन

आवश्यक है (जो भविष्य में शीघ्र हो आने की स्थिति में कदाचित् ही हो) । यह ग्रन्थ विश्वेश्वर पाण्डेय का कीर्तिस्तम्भ ही है अलङ्कारशास्त्र के ऐतिहासिक क्रम में, यह सर्वविदित है ही ।

(२) अलङ्कार-प्रदीप—इनका अलङ्कारशास्त्र विषयक ग्रन्थ है, जिसमें कुबलयानन्द के आदर्श पर सरल शब्दावली में अर्थालङ्कारों के लक्षण तथा स्वरचित् पद्यों में उदाहरण दिये गये हैं, जिससे अलङ्कारों का स्वरूप स्पष्ट हो जाये । यह ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्र के प्रथम अभ्यासक के लिए कदाचित् निमित्त किया गया था, जिससे इनके प्रीढ़ ग्रन्थों की सोपान पर आरोहणार्थ अभ्यासक को तैयार किया जा सके । इसी कारण इसमें शास्त्रीय विचारों की न तो विस्तीर्णता और न ही गहराई रखी गयी है । ग्रन्थ का प्रकाशन चौखम्बा, वाराणसी से हुआ है ।

(३) अलङ्कार-मुक्तावली—इसी के समान इनका अलङ्कार विषय पर अन्य ग्रन्थ है—‘अलङ्कार मुक्तावली’, जो अलङ्कार-कौस्तुभ का ही सरल एवं संक्षिप्त संस्करण-सा है, जिसमें अलङ्कार-कौस्तुभ की ही लक्षणनिदर्शक कारिकाओं को रख कर संक्षिप्त विवरण दे दिया गया है । कौस्तुभ के अध्येताओं के लिए तो यह एक आधार-पीठिका को तरह प्रथम पठनीय है । इसका भी प्रकाशन चौखम्बा, वाराणसी से हुआ था ।

(४) रसचन्द्रिका—भानुदत्त मिश्र के रसमञ्जरी के आदर्श पर यह ‘रसचन्द्रिका’ ग्रन्थ है, जिसमें नायक-नायिका-भेद तथा तत्सम्बद्ध विषयों का विवरण दिया गया है । इसमें उदाहरण प्रायः नवीन रखे गये हैं तथा रसादि विवेचन भी विशिष्ट है । यह इन्हीं भी चौखम्बा, वाराणसी से प्रकाशित हुआ है ।

(५) आर्यसप्तशती—यह मुक्तक काव्य है, जो अपनी परम्परागत पद्धति से है । इसमें वर्णमाला के क्रम से ब्रज्या क्रम रखा गया है । विश्वेश्वर जी एक तलस्पर्शी शास्त्र-पाण्डित्य के साथ साथ वस्तुतः भावुक कवि भी थे । यह उनकी भावात्मक कविताओं का रसपूर्ण संग्रह है । दोर्घकाल से चली आ रही संस्कृत साहित्य की सप्तशती परम्परा का अनुगमन एवं संरक्षण ही ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य प्रतीत होता है, परन्तु इसमें कथ्य तथा तथ्य एकदम मौलिक तथा हृदयस्पर्शी है । इस ग्रन्थ का प्रकाशन भी चौखम्बा, वाराणसी से हुआ है ।

(६) मन्दारमञ्जरी—विश्वेश्वर पाण्डेय की मौलिक प्रतिभा का परिचय इसी गद्य काव्य रचना से मिलता है । मन्दारमञ्जरी में गद्य काव्य के समस्त गुण विद्यमान हैं । संस्कृत साहित्य की अभिनवता को रखते हुए कादम्बरी के टक्कर की यह रचना भी उसी की तरह केवल पूर्व भाग तक ही बन पायी, उत्तरभाग की पूर्ति इनके पुत्र या शिष्य द्वारा की गयी । पूर्वभाग को श्री तारादत्पतं की संक्षिप्त संस्कृत टीका के साथ पर्वतीय प्रकाशनमण्डल, काशी ने प्रकाशित किया तथा श्री गोपालदत्त पाण्डेय ने सम्पादित किया है तथा उत्तर भाग अभी प्रकाशन की प्रतीक्षा में हस्तलेख के रूप में विद्यमान है ।

(७) कवीन्द्रकर्णभरणम्—यह ‘विदग्धमुखमण्डन काव्य’ के आदर्श पर लिखित एक स्फुट रचना है, जिसमें सर्वत्र मौलिकता के दर्शन होते हैं । ग्रन्थकार ने भी इसे पूर्वाचार्यों की शृङ्खला में किये जाने वाले अभिनव विचार-पूर्ण प्रयास की संज्ञा दी है । ग्रन्थ काव्यमाला, वस्त्राई से प्रकाशित है ।

(८) रोमावलीशतकम्—यह किसी एक या प्रकीर्ण विषय को लेकर सौ पद्यों में की जाने वाली संस्कृत मुक्तक परम्परा के अनुरूप रचना है, जिसमें शृङ्खार-रस की प्रधानता के साथ प्रस्तुत रोमावली का निरूपण नायिकानखशिख जैसे रन्धीय विषय को लेकर रखा गया है । ग्रन्थ का प्रकाशन काव्यमाला में ‘कवीन्द्रकर्णभरण’ के साथ हुआ है ।

(९) नवमालिका—(नाटिका)—यह विश्वेश्वर पाण्डेय की विशिष्ट नाट्य कृति में परिणनीय है, जिसमें नाटिका की प्राचीन परम्परा का अनुगमन किया गया है । नाटिका का आलेखन सरस एवं प्रवाहपूर्ण शैली में है तथा उत्कृष्ट शब्दशब्द्या से सर्वत्र पदावली माण्डत दिखलाई देती है । इसमें अवन्तिपति महाराज विजयसेन तथा उनकी महिलों चन्द्रलेखा के अन्तःपुर में आनेवाली नवमालिका नायिका की कथा निवद्ध है । कथानक रत्नावली नाटिका जैसी ही कौतूहल-पूरित एवं श्रृंगार रस से सराबोर है, जिसमें सभी घटनाओं की उपयुक्त

१. विश्वेश्वराभिधिकवौश्वर निर्मितेयं तोणं कथा न हृदि कस्य चरीकरीति ।

अस्या अपूर्तिजनितेन हि नोधमानो दुःखेन चापलमहं प्रकटीकरोमि ॥

मन्दारमञ्जरी, उत्तरभाग का आरभ्मक पद्य (हस्तलिखित अंश)

स्थिति में योजना की गयी है। इसका सम्बादन प्रस्तुत पक्षियों के ही लेखक द्वारा होकर संस्कृत मासिक 'मालवमयूर' पत्रिका में क्रमशः प्रकाशन हुआ है। सम्प्रति इसका एक परिशुद्ध संस्करण प्रकाशन पथ पर है, जिसमें इसकी विस्तीर्ण समीक्षा (उसी संस्करण में) की जा रही है।

(१०) शृङ्गार-मञ्जरी—(सटूक)—प्रस्तुत ग्रन्थ विश्वेश्वर पाण्डेय की उपलब्ध नाट्यकृति है, जिस पर आगे इसी क्रम में विस्तार किया जा रहा है। शृङ्गारमञ्जरी का उद्धरण भी अलङ्कार-कौस्तुभ में रहने से यह अलंकार-कौस्तुभ से पूर्व निर्मित हो चुकी थी, यह स्पष्ट है।

(११) व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि—व्याकरण-शास्त्र में विश्वेश्वरजी परिनिर्धित विद्वान् थे। किंवदन्ती के अनुसार व्याकरणशास्त्र के दिग्गज विद्वान् हरिदीक्षित इनसे शास्त्रार्थ में भी पराजित हुए थे। व्याकरणशास्त्र के कीर्तिस्तम्भरूप में यह ग्रन्थ है तथा आकरग्रन्थ भी। इसकी रचना अष्टाध्यायी पर सूत्रक्रम के अनुसार व्याख्यान के साथ की गयी है, जो अतिविस्तीर्ण है। यह व्याख्यान तीन अध्यायों तक ही मिलता है, जिसका प्रकाशन चौखम्बा, वाराणसी से हुआ है। इतना विस्तीर्ण ग्रन्थ यदि पूर्ण हो जाता तो व्याकरणशास्त्र के लिए अतिशय सीभाग्न का विषय बनता, जिसके तीन अध्यायों का मुद्रित अंश ही १५९१ पृष्ठों में पूर्ण हुआ है। अतः यदि अवशिष्ट पाँच अध्याय और भी लिखे जाते या प्राप्त होते तो इसके आयाम के परिणाम की कल्पना हो सकती है। इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर कात्यायन तथा पतञ्जलि के अभिमत तथ्यों को बतलाते हुए उनके लाघव-गौरव को चर्चा बड़ी ही स्पष्ट एवं मौलिक रूप में की गयी है तथा अनेक अस्पष्ट विषयों एवं तथ्यों को व्याकरणशास्त्र के प्रकाश में स्पष्ट कर अपने मत का प्रदर्शन किया है, जिसमें व्याकरणशास्त्र के परम्परागत प्रवाह का अनुगमन तो है ही, तत्कालीन प्रचलित दीक्षित की 'सिद्धान्तकौमुदी' की परम्परा का प्रतिरोध भी दृष्टिगत होता है। इस ग्रन्थ में नव्यन्याय की शैली में व्याकरण शास्त्र के प्रमेयों को तर्कों के आधार पर उपस्थापित कर भावी विद्वानों को दिशा-

१. यथा-'मुद्रतण' इत्यादि भृ० मं० ३।३६ का पथ उदृत—द्रष्टव्य अ० कौस्तुभ—पृ० ३४७।

निर्देश दिया गया है, जिसका अनुसरण आगे चलकर प्रायः नव्यवैयाकरणों ने किया भी है। इस आकर ग्रन्थ में विश्वेश्वरजी ने प्रमाण-स्वरूप अनेक ग्रन्थों से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं जिन पर यदि दृष्टिपात किया जाय, तो इनके व्यापक अध्ययन तथा पाण्डित्य की स्पष्टतः अभिव्यक्ति होती है।

अप्रकाशित ग्रन्थ-विवरण

इसके अतिरिक्त उपर्युक्त तालिका में जिन ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है, उनमें से कुछ ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में (अभी भी) विद्यमान हैं। इनमें 'तकङ्कुतूहल' न्यायशास्त्र का प्रकरण ग्रन्थ है, जिसका महत्व प्रकाशन के बाद ही रूपष्ट होगा। उनका 'तत्त्वचिन्तामणि-दीधिति-प्रवेश' नव्यन्याय का व्याख्यातमक ग्रन्थ है, जो गड्गेशोपाध्याय के प्रसिद्ध ग्रन्थ अनुमानचिन्तामणि की दीधिति व्याख्या पर टीका है। इसमें आचार्य विश्वेश्वर के तर्कशास्त्रीय विचारों का स्वतन्त्र उपपादन अतिशय महत्व रखता है, जो नव्यन्याय की नवद्वीप परम्परा की टक्कर का है। इसी क्रम में इनकी 'नैषध' महाकाव्य की 'भावप्रबोधिनी-व्याख्या' आती है। वृहत् त्रयी में नैषध का स्थान मूर्धन्य है। इसी कारण इस महाकाव्य पर अनेक व्याख्यान हुए। 'नैषध' में अनेक दार्शनिक एवं शास्त्रीय रहस्य-ग्रन्थियाँ हैं, जिनको स्पष्ट करने के लिए अनेक पक्षों से इस पर व्याख्यान के प्रयास हुए थे। इसी क्रम में नैषध की भावप्रबोधिनी प्रस्तुत व्याख्या भी आती है, जिसमें महाकवि के गूढ़ भावों को प्रकाशित करने में विश्वेश्वर पाण्डेय ने बड़ी कुशलता प्रदर्शित की है। इस टीका में उनने अपने अनेक पूर्ववर्ती व्याख्यानों की समीक्षा भी की है। अतः एक आलंकारिक एवं शास्त्रवेत्ता के द्वारा रचित इस व्याख्या का अपना महत्व है। यह व्याख्या समग्र नैषधीय चरित पर उपलब्ध है, तथा हस्त-लेख के रूप में सम्पादन को प्रतीक्षा कर रही है।

इनकी अन्य टीका है भानुदत्त मिथ्र के ग्रन्थ 'रसमञ्जरी' की व्याख्या।

१०. इस महान् ग्रन्थ में व्याकरणशास्त्र के अनेक अशात् पद्वं प्रामाणिक ग्रन्थों से उद्धरण दिये गये हैं, जिनकी संख्या ३३ है। इसके अतिरिक्त ६ वेदान्त ग्रन्थ, ५ मीमांसा ग्रन्थ, ५ वैदिक ग्रन्थ तथा ७ साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों से भी प्रमाणक सामग्री प्रस्तुत कर उनकी चर्चा रखी गयी है।

रसमझारी की यह व्याख्या अतिविशद तथा प्रामाणिक भी है, जिसमें रसनिरूपण के साथ नायिकाभेदों का निरूपण है। इसमें ग्रन्थकार के आशय को व्याख्यान के द्वारा स्पष्ट करने के अतिरिक्त स्वतन्त्र आलोचना का भी व्याख्याकार को अवसर रहता है, जिसका निर्वाह होकर यह अपने विषय को स्वतन्त्र ग्रन्थ बनने की भी स्थिति प्रदान करता है।

इनकी अन्य अप्रकाशित एवं ज्ञात रचनाओं के क्रम में 'हृषिमणीपरिणय' नामक नाटक^१ है, जिसके अनेक उद्घरण विश्वेश्वर पण्डित ने अपने 'अलङ्घार-कौस्तुभ' में उदाहरणादि के प्रसंग में दिये हैं, जो उक्त नाटक के उत्तम स्तर के होने के प्रमाण हैं, परन्तु यह नाटक पूर्ण या अपूर्ण रूप में अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। इनका 'लक्ष्मीविलास' कदाचित् काव्यग्रन्थ होगा, जिसमें इनके पितृचरण एवं गुरु श्री लक्ष्मीधर पण्डित की प्रशस्ति तथा जीवनी रही होगी, किन्तु यह ग्रन्थ भी सम्प्रति प्राप्त नहीं है। इनके शेष ग्रन्थ हैं—'काव्यतिलक' तथा 'काव्यरत्न', जो काव्यप्रकाश के समान साहित्यशास्त्रीय लक्षण-ग्रन्थ होने की स्थिति को अपने नाम से प्रकट कर रहे हैं। ये दोनों ग्रन्थ भी सम्प्रति नहीं मिल रहे हैं। 'वक्षोजशतक' तथा 'होलिकाशतक' इनके रोमावलिशतक की तरह ही स्फुट मुक्तक (रचना) काव्य होकर गीतिकाव्य की पूर्ति करते हैं। ये दोनों ही शृङ्खार रस-प्रमुख शतक काव्य हैं—जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट है।

सटूक-स्वरूप भीमांसा

साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने सटूक की उपरूपकों में गणना की थी। परन्तु यह प्राप्य निर्दर्शनों से स्पष्ट है कि सटूकपरम्परा का आरम्भ राजशेखर कवि की कर्पूरमझारी से ही है। इसके पूर्व साढ़िक या साटक शब्द का प्रयोग नाट्य-प्रदर्शन के लिए प्राप्त अवश्य होता है, किन्तु ये रंगमञ्च पर प्राप्त किन स्वरूपवाले प्रदर्शनों के लिए होता था, यह ज्ञात नहीं। सटूक का स्वरूप भी कर्पूरमझारी की प्रस्तावना में इसी कारण राजशेखर ने ही दिया भी था। यथा—

१. हृषिमणीपरिणय के अतिरिक्त इन्होंने अलंकार-कौस्तुभ के स्वोपज व्याख्यान में अपने ही एक अन्य नाटक 'अभिरामराधव' से भी एक पद उद्धृत किया है, जिससे यह भी विश्वेश्वर की एक नात्म रचना थी, यह विदित होता है, परन्तु इसका भी केवल उल्लेख मात्र प्राप्य है। द्र० अल० कौस्तु०, पृष्ठ १७६-१७०।

कथिदं ज्जेव छद्मलेहि—

सो सट्टओ त्ति भणइ दूरं जो नाडिआए अणुहरइ ।
किं उण पवेस विक्खंभकाइं केवलं ण दीसंति ॥'

[विद्वानों का कथन है कि जिसमें नाटिका का पूर्ण अनुकरण हो, तथा जिसमें केवल प्रवेशक तथा विक्षेपक की योजना नहीं हो, उसे 'सट्टक' कहते हैं ।]

अतः स्पष्ट है कि सट्टक एक प्रकार की नाटिका-सी है । नाटिका के स्वरूप पर भरतमुनि से लेकर आचार्य विश्वनाथ कविराज तक प्रायः सभी आचार्यों ने अपने मन्त्रब्य दिये हैं, जिनमें पूर्व परम्परा का साधार अनुगमन है । इसलिए यहाँ विश्वनाथ कविराज के द्वारा दिया गया मत उद्धृत करना ही उपयुक्त है ।

नाटिका वह उपरूपक है जिसका इतिवृत्त या कथावस्तु कल्पित होती है, इसमें स्त्री पात्रों की प्रचुरता होती है तथा चार अङ्क होते हैं । इसका नायक प्रख्यात तथा धीर-ललित प्रकृति का रहता है । इसकी नायिका नायक के ही अन्तःपुर से सम्बद्ध तथा सज्जीत आदि कलाओं में निपुण होती है । यह नवानुरागवती कन्या तथा राजकुल में उत्पन्न होती है । नायक एवं नायिका का पारस्पर्यक अनुराग महादेवी के भय से युक्त रहता है तथा इनका संगम भी उसी के अधीन है । महादेवी प्रगत्या तथा मानवती रहती है । इसमें कैशिकीवृत्ति की प्रमुखता तथा विमर्श-सन्धि के अंशमात्र से युक्त चारों सन्धियों की योजना रखी जाती है ।

राजशेखर के परवर्ती नाट्यशास्त्रकार आचार्यों ने राजशेखर द्वारा दी गयी सट्टक की परिभाषा की समीक्षा के साथ उसे अपने-अपने ढंग से साहित्य में प्रतिष्ठित करने का उद्योग भी किया, किन्तु सट्टक के स्वरूप पर लक्षण ग्रन्थों में विचारभेद भी पर्याप्त परिलक्षित होता है । इस क्रम से विचार करने पर सर्व-प्रथम आचार्य अभिनवगुप्तपाद को लेना उचित है, किन्तु इसीक्रम के स्पष्ट लक्षण-कारों में आचार्य सागरनन्दी ही प्रथम आते हैं, जिनका स्थितिकाल (११वीं शती) प्रायः अभिनवगुप्त के योड़ा ही वाद (आता) है । अभिनवगुप्तपाद के

१. द्र०—कपू० मं० १६

२. द्रष्टव्य—सा० दर्प० ६।२८१

अनुसार सटूक नाटिका के समान होता है, जो नाटिका का ही प्रभेद है। सागरनन्दी ने सटूक के स्वरूप को नाटिका सदृश बतलाकर उसमें कैशिकी वृत्ति को मृण्य रूप में रखने, अवमर्शसन्धि में रीढ़, बीर, बीभत्स तथा भयानक रस के न रखने तथा अङ्गों के स्थान पर 'यवनिकान्तर' की योजना को बतलाया। इसमें शौरसेनी, प्राच्या या महाराष्ट्री प्राकृत की योजना के साथ नायक भी प्राकृतभाषी ही रखा जाता है अर्थात् सटूक में प्राकृत भाषा की सामर्येण योजना रहती है। सागरनन्दी ने भाषा के सन्दर्भ में बादरायण आचार्य का सन्दर्भ देते हुए बतलाया कि नायक के संवाद संस्कृत भाषा में भी रखे जा सकते हैं, परन्तु समग्र सटूक की प्राकृत भाषा ही उचित रूप में रखी जाती है।

इस प्रकार सागरनन्दी ने सटूक के स्वरूप की व्यवस्थित तथा व्यापक परिसीमा दिखला कर प्रस्तुत किया था। इसके बाद परवर्ती शास्त्रकारों ने प्रायः इसी से मिलते-जुलते लक्षण दे दिये तथा कुछ नवीन तथ्य भी जोड़ दिये। इस प्रसंग में शारदातनय का भावप्रकाशन में दिया हुआ सटूक का स्वरूप विशेष उल्लेख योग्य है। तदनुसार सटूक में उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त प्रवेशक तथा विषक्षम्भक नहीं होते तथा उत्कृष्ट प्राकृत भाषा की (समग्र सटूक में) योजना रहती है। इसके अतिरिक्त सटूक एक नृत्य भेद भी होता है तथा इसी नृत्यात्मक विशेषता के कारण नाटिका 'सटूक' बन जाती है, जब कि उसकी भाषा प्राकृत हो। शारदातनय ने आचार्य बादरायण के प्राकृत भाषा के नायक के प्रयोग को नियिद्ध मानने की आलोचना करते हुए उसे भी प्राकृतभाषी रहने का समर्थन दिया। यह क्रम सागरनन्दी ने पूर्व में ही दिखला दिया था। आचार्य विश्वनाथ कविराज ने सन्तुलित लक्षण द्वारा सटूक के इन सभी तथ्यों को बतलाकर इसके तत्त्वों का विवरण दिया। इनके अनुसार सटूक में अङ्गूतरस की भी योजना रहनी चाहिए तथा नाटिका के सभी तत्त्व भी।

श्री अमृतानन्द योगी ने अपने ग्रन्थ अलङ्घारसंग्रह में सटूक की प्राकृतभाषा में ही रचना करने के अतिरिक्त उसमें शृङ्खार तथा अङ्गूतरस की योजना को रखने की बात कही, जो प्रायः सर्वत्र परम्परागत लक्षण के अनुगमन की बात को दर्शाती है। इसी प्रकार के विवरण संगीतशास्त्र में भी (लक्षण सहित) मिलते

हैं। श्री शुभंकर ने सटूक या शाटक के स्वरूप को एक ही पद्म में प्रस्तुत किया है। यथा—

“शाटः स्यादिह नाटिकासमगुणः शृङ्गारभेदोज्ज्वलो
रस्यप्राकृतभाषया विरचितो नित्यं चतुर्स्सन्धिकः ।
किन्त्वेकोऽत्र विशेष एव भवति प्रायेण विष्कम्भको
नो वा स्यादिह हि प्रवेशकविधिः कार्यो मनागद्भुतः ॥”

इस प्रकार सटूक के लक्षणों के क्रम तथा वैशिष्ट्य को देखा जा सकता है। सभी लक्षण ग्रन्थों ने सटूक का उदाहरण श्री राजशेखर कवि की कर्पूरमञ्जरी को ही बतलाया। सटूक शब्द का अर्थ किसी प्राचीन लोकप्रिय नाट्यप्रदर्शन से सम्बद्ध रहा होगा, ऐसी कल्पना करते हुए श्री स्टेनकोनों ने भारहृत शिलालेख में प्रयुक्त ‘साडक’ शब्द को सटूक का प्राचीनरूप मानने की बात कही थी। साडक प्राचीनकाल का ऐसा नृत्यप्रदर्शन था, जिसमें छः पात्र भाग लिया करते थे। इन्हीं छः या सात पात्रों के नृत्य को संगीत नाट्यमयी शृङ्गारी कथावस्तु से युक्त नाटिका को अपने स्वरूप के साथ पुनरुद्घावित करने की प्रवृत्ति ही सटूक के वर्तमान लक्षण के मूल में विद्यमान रही है।

आचार्य राजशेखर ने स्वयं भी नाटक तथा नाटिका की रचना के अतिरिक्त सटूक का भी प्रणयन किया। इस प्रकार इनने नाटिका को नवीन रूप दिया, मौलिक नाट्य-प्रदर्शन-भूत सटूक के माध्यम से। इसमें केवल प्राकृतभाषा के प्रयोग के साथ-साथ सरस नाट्य को प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति की ओर उनका झुकाव दिखता है। इसी कारण कर्पूरमञ्जरी की प्रस्तावना में सटूक के स्वरूप को दिखलाने वाला विवरण भी राजशेखर को रखना पड़ा था तथा उसके भाषा तत्त्व की प्रशंसा भी करनी पड़ी। इसी विचार-प्रणाली ने सटूक की स्वरूपगत विशेषताओं को रूढ़ कर दिया तथा कर्पूरमञ्जरी के आदर्श पर ही उत्तरकाल में सटूकों का प्रणयन हुआ तथा नयचन्द्र ने रम्भामञ्जरी, रुद्रादास ने चन्द्रललेखा, मार्कण्डेय ने विलासवती, विश्वेश्वर पाण्डेय ने शृङ्गारमञ्जरी तथा घनश्याम ने बानन्दसुन्दरी की रचना की, जिनका विवरण यथास्थान दिया जा रहा है।

सटूकों का क्रम तथा विकास

सटूकों की स्वरूपमीमांसा के उपरान्त उनके विकास-क्रम की चर्चा आवश्यक है। यद्यपि हमारे सम्मुख सटूकों की सन्तोषप्रद संख्या में उपलब्धि नहीं है, परन्तु इनकी संख्या तथा साहित्यिक नमूने इतने कम भी नहीं हैं कि इसे एक सामान्य विधा मान कर इसकी उपेक्षा की जा सके। हमें अनेक सटूक प्राप्त हैं, जिनसे उनके क्रमिक एवं ऐतिहासिक विकास को देखा जा सकता है। इस क्रम में विवरण देने की स्थिति में सर्वप्रथम आदर्शभूत कृति है राजशेखर की 'कर्पूरमञ्जरी', जिसका संक्षिप्त विवरण देते हुए सटूकों का क्रमिक विवेचन प्रारंभ होता है।

राजशेखर तथा उनकी कर्पूरमञ्जरी—राजशेखर कवि का स्थितिकाल तथा परिचयादि विवरण प्राप्य है। ये यायावरवंशीय महाराष्ट्र से आये हुए ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम दर्दुरक या दुहिक या तथा माता का नाम शीलवती। राजशेखर उपर्युक्त वातावरण के मिलने से वात्यकाल से ही कवि-कर्म में प्रवृत्त होकर सफलता प्राप्त करने के कारण 'बालकवि' की पदवी प्राप्त कर चुके थे। इनका विवाह चौहानवंशीया अवन्तिसुन्दरी नामक विदुषी से हुआ था। कर्पूरमञ्जरी का आलेखन भी इसी की प्रेरणा से किया गया था। राजशेखर कवि कन्नोज के राजा महेन्द्रपाल देव या निर्भयराज की सभा में आचार्य पद पर थे तथा इनके पुत्र महीपालदेव के समय तक बने रहे। यहाँ रहकर इनने बालरामायण, बालभारत तथा कर्पूरमञ्जरी की रचना का तथा जब राष्ट्रकूट राजा इन्द्र के प्रबल आक्रमण से कन्नोज पराभूत हुआ तो ये अपने पैतृक स्थान त्रिपुरी में लौट आये तथा जीवन के अन्तिम वर्ष तक यहाँ रह कर विद्वाशलभज्ञिका-नाटिका तथा काव्यमीमांसा जैसे ग्रन्थों की रचना की। उपर्युक्त विवरण के प्रकाश में इनका स्थितिकाल नवीं शती के उत्तरार्ध से आरम्भ होकर दसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक निश्चित होता है।

राजशेखर को विद्वत्समाज तथा राज सभा दोनों में अतिशय सम्मान प्राप्त रहा तथा अपने युग के मूर्धन्य विद्वानों एवं कवियों में इनका स्थान बना। इसी के साथ इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी उन्नत स्थान पर रही तथा इनने तात्कालिक

जनहचि के अनुरूप साहित्यिक रचनाओं के द्वारा साहित्य को नये आयाम प्रदान किये। ये एक प्रतिभामण्डित नाट्यकार, कवि तथा आचार्य रहे, जिनने संस्कृत साहित्य के इतिहास में मणिकाञ्चन संयोग को चरितार्थ किया। अतः जहाँ इनके रूपक तत्त्वालीन विकसित नाट्यकला के साथ साथ भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक स्थिति को दिखला कर साहित्य को समाज के दर्पण होने की मान्यता को प्रकट करते हैं, वहाँ उनकी 'काव्यमीमांसा' भारतीय साहित्यशास्त्र की अनेक शाताव्दियों की चिन्तित परम्पराओं का सञ्चित परिणाम बनकर अपना विलक्षण महत्त्व स्थापित करने में सक्षम है।

कर्पूरमञ्जरी

कथा संक्षेप—सट्टक के अभिनय का आरम्भ वसन्तऋतु के सरस वातावरण में होता है तथा महाराज चण्डपाल देव तथा महादेवी वसन्त ऋतु में मलयानिल का वर्जन करते हैं। इसी प्रसंग में विदूषक का विलक्षण दासी से वार्तालाप के प्रसंग में वाक्कलह उपस्थित हो जाने पर विदूषक अप्रसन्न होकर चला जाता है, पर तभी भैरवानन्द नामक सिद्ध आचार्य के वहाँ आने से वह उन्हें साथ लेकर महाराज के पास आ जाता है। महाराज योगी भैरवानन्द से कोई अन्तु आश्चर्य दिखलाने का निवेदन करते हैं तथा योगी अपने समाधि-सामर्थ्य से विदर्भ देश को परम सुन्दरी राजकन्या कर्पूरमञ्जरी को सभी के सम्मुख लाकर उपस्थित कर देते हैं। महाराज उसके अवलोकन मात्र से ही उसके प्रति आकृष्ट हो जाते हैं तो उधर राजकन्या भी महाराज के प्रति अनुराग दृष्टि से देखती है। इस कन्या का परिचय पाते ही महारानी उसे कुछ दिन अपने पास रखने की भैरवानन्द से प्रार्थना करती है, क्योंकि यह कन्या महारानी की मौसी की ही कन्या थी। महाराज के अनुमोदन पर उस कन्या को महारानी के साथ रख दिया जाता है। कर्पूरमञ्जरी का नेपथ्य-विधान ठीक करने के लिए महारानी उसे अपने साथ अन्तःपुर में ले जाती है। इसी समय सन्ध्या हो जाती है।

भायिका कर्पूरमञ्जरी के लोकोक्तर सौन्दर्य के स्मरण से विरहवेदना में महाराज अतिम्लान हो जाते हैं। इसी समय विदूषक आकर सूचित करता है कि हिन्दोलन चतुर्थी के अवसर पर महारानी गौरीपूजन के पश्चात् कर्पूरमञ्जरी

को झुलायेगी, जिसे मरकतकुंज में स्थित हो महाराज झूलती हुई देख सकते हैं। जब बाद में वह झूले से नोचे उतर जाती है तो महाराज को फिर से वही विरह वेदना आ चेरती है। तभी विचक्षणा दासी महाराज को वृक्षों के दोहद कार्य को सम्पन्न करने वाली नायिका को देखने का निवेदन करती है तथा उसे ऐसी दशा में देख महाराज और विदूपक अपने अपने देखे गये स्वप्नों की बात कहने लगते हैं।

इधर कर्पूरमञ्जरी भी महाराज के विरह में आकुल हो उठती है। उधर जब महाराज विदूपक से अपनी स्थिति बतलाने को ही रहते हैं तभी कर्पूर-मञ्जरी तथा दासी कुरञ्जिका भी वहीं आती हैं, तो उसे देख ये परस्पर स्तव्य हो उठते हैं। राजा नायिका के हस्त का जब स्पर्श करता है, तभी संयोग से दीपक बुझ जाता है। दोनों सुरञ्ज के मार्ग से प्रमदोद्यान में प्रवेश करते हैं। महारानी को जब दोनों के मिलन की बात ज्ञात होती है और वह उन्हें देखने को आने लगती है तो नायिका कर्पूरमञ्जरी घबराती हुई शीघ्र ही उसी सुरञ्ज के रास्ते से वापस अपने रक्षागृह में चली जाती है। इसके बाद महारानी उसे कठोर नियन्त्रण में रख लेती है। तभी सारञ्जिका महाराज को बटसावित्रीमहोत्सव के अवलोकनार्थ आमन्त्रित करते हुए यह सन्देश भी दे देती है कि आज सायंकाल उनका विवाह हो रहा है। राजा अपनी सेविका से जब इस बात को विस्तार से पूछते हैं तो वह उन्हें बतलाती है कि महारानी ने गौरी की प्रतिमा बनवा कर उसकी प्राणप्रतिष्ठा भैरवानन्द द्वारा करवा कर स्वयं उनसे दीक्षा ग्रहण की है। इसके बाद जब महारानी भैरवानन्द से गुरुदक्षिणा के लिए आग्रह करती है तो वे कहते हैं कि मुझे यह दक्षिणा—महाराज को लाटदेश के चन्द्रसेन की पुत्री कर्पूरमञ्जरी को देकर विवाह करवा कर—प्रदान करो; क्योंकि कर्पूरमञ्जरी के भाग्य में चक्रवर्ती की महारानी बनने का योग है। इस प्रकार मुझे गुरुदक्षिणा भी मिल जायेगी तथा महाराज को चक्रवर्ती पद की प्राप्ति भी हो जायेगी। रानी घनसारमञ्जरी को—जो कि कर्पूरमञ्जरी ही थी—महाराज को प्रदान कर अपना कर्तव्य निर्वाह करती है तथा महाराज को इस विवाह के होते ही चक्रवर्तीपद की प्राप्ति हो जाती है।

भाषा-विधान

कर्पूरमञ्जरी प्राकृतभाषा में रचित सटुक है, अतः इसका साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में किसी रूपक के सम्पूर्ण प्राकृत भाषा में निर्माण करने का विवरण नहीं दिया और न ही धनञ्जय आदि ने भी ऐसे किसी नाट्यप्रदर्शन का विवरण दिया जो राजशेखर से कुछ ही वर्ष पूर्व रहे थे। इसीलिये सटुक के स्वरूप को भी भाषा के विशेष समर्थन के द्वारा कर्पूरमञ्जरी की प्रस्तावना में सूत्रधार स्थापित करता भी है।

राजशेखर के मत में प्राकृतभाषा सुकुमार होती है। प्राकृत भाषा को यहाँ दो भागों में उपलब्ध करवाया गया है। कर्पूरमञ्जरी में शौरसेनी तथा महाराष्ट्री, दोनों प्राकृत-भाषाओं की उपलब्धि होती है। शौरसेन जनपद की व्यावहारिक भाषा रहने से यह शौरसेनी प्राकृत कहलायी। कर्पूरमञ्जरी में सामान्यतः शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग गद्य में तथा महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग पद्य में किया गया है। इस स्थिति को स्पष्टतः देखने पर यही कारण प्रतीत होता है कि यह नाट्यसाहित्य के क्षेत्र में कवि का एक परीक्षण है। राजशेखर के समय संस्कृत भाषा की अपेक्षा प्राकृत भाषा समाज में सुवोध थी तथा उसीका बोलचाल में प्रयोग होता था। अतः सभी लोगों के लिए संस्कृत गद्य पद्य की तुलना में प्राकृत गद्य पद्य समझना सरल था। इस कारण सभी की सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए कवि ने शौरसेनी प्राकृत में अपने सटुक की रचना की थी। यह सत्य है कि नाटक आदि रूपकों में संस्कृत भाषा को प्रमुख स्थान पर (निश्चित) रखा गया था तथा प्राकृतादि भाषाओं को गोण; किन्तु समग्रतः प्राकृत में रचित यह सटुक उस समय प्रजाजन को रुचिकर ही रहा, क्योंकि यह उस समय प्रचलित रूपकों की एक नवीन विधा थी। कर्पूरमञ्जरी के परिशीलन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इसमें प्राकृत भाषा का पूर्णतः विकसित रूप विद्यमान है, क्योंकि राजशेखर का कई भाषाओं पर अच्छा अधिकार था। इनकी प्राकृत भाषा व्याकरण-सम्मत, एवं परिशुद्ध है, जिसका मूल आधार व्याकरण-शास्त्र के अनुसार स्थापित इनका रूप है। राजशेखर व्याकरण की दृष्टि से भी भाषा की शुद्धता रखने के कार्य में जागरूक थे। (इनका रहने पर भी) इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग

प्रचुर मात्रा में हैं तथा प्राकृत के नवीन शब्दों के प्रयोग में मौलिकता के पद-पदे दर्शन होते हैं। राजशेखर की सूक्तियाँ उनके भाषा के अधिकार को जहाँ दिखलाती हैं, वहीं उसमें अधिक निखार आ गया है। प्राकृत के लिए नवीन प्रयोगों के उदाहरण में शिविल के लिए दिल्ल तथा सिद्धिल, यष्टि के लिए लट्टी तथा राजा के लिए ठक्कुर पद को लिया जा सकता है। यथा स्थान रसों, रीतियों तथा छन्दों का प्रयोग भी परम्परानुमोदित रहने से कर्पूरमञ्जरी का महत्त्व सदा अक्षुण्ण बना रहेगा।

नयचन्द्र कवि तथा उनकी शृंगारमंजरी

सट्टक के क्रम में राजशेखर के बाद श्री नयचन्द्र तथा उनकी रम्भामञ्जरी का स्थान आता है। रम्भामञ्जरी के रचयिता नयचन्द्र कवि ने हम्मीरमहाकाव्य तथा रम्भामञ्जरी सट्टक की रचना की थी। इनके आत्म-परिचय विषयक पदों से, जो हम्मीरमहाकाव्य तथा रम्भामञ्जरी की प्रस्तावना में हैं—इन दोनों रचनाओं का एक कर्तृत्व भी स्पष्ट हो जाता है। इसमें प्राप्त विवरण के अनुसार प्रसिद्ध कृष्णगच्छ में जयसिंह सूरि नामक प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए, जिनने सारङ्ग नामक एक प्रख्यात कवि-मनीषी को शास्त्रार्थ में परास्त किया था। सारङ्ग कवि के अतिरिक्त छः भाषाओं का पण्डित भी था तथा उसने इन सभी भाषाओं में अपने ग्रन्थ बनाये थे। इसके अतिरिक्त यह तार्किक पण्डित भी था जिसके तीन प्रसिद्ध ग्रन्थों में न्यायसार टीका, एक नवीन व्याकरण ग्रन्थ तथा नृपति काव्य था (जो राजप्रशस्ति था)। इसके अतिरिक्त सारङ्ग का अधिक परिचय नहीं मिलता। जयसिंह सूरि के भी तीन ग्रन्थ ज्ञात हैं—(१) भाषा विज्ञ, (२) भासर्वज्ञकृत न्यायसार को एक टीका तथा कुमारपालचरित महाकाव्य जो दस सर्गों का था तथा इसकी रचना वि० सं० १४२२ (ई० १३६४-६५) में हुई थी। इन्हीं जयसिंह का शिष्य प्रसन्नचन्द्र था, जो अनेक राजाओं द्वारा सम्मानित हुआ था। इन्हीं प्रसन्नचन्द्र का शिष्य नयचन्द्र था, जो परम्परा के कारण जयसिंहसूरि को परम्परा में उनका उत्तराधिकारी हुआ। काव्य के क्षेत्र में अभ्यास तथा श्रम के कारण इन पर भगवती सरस्वती की कृपा रही तथा ये यशस्वी महाकवि की ध्येयी में आ गये। इनने अपने पूर्वभावी कवियों में श्रीहर्ष, वात्स्यायन तथा अमरचन्द्र कवि-

का सन्दर्भ दिया है तथा ये काव्य के क्षेत्र में इन दोनों कवियों की विशेषताओं से मणिडत काव्यरचना के सफल प्रयोक्ता भी रहे। (अमरचन्द्र कवि का पद्मानन्द महाकाव्य १३वीं शती में निर्मित था) इसी कारण इनकी कविता में अमरचन्द्र कवि का पद-लालित्य तथा श्रीहर्ष कवि की 'वक्रिमा' का अपूर्व सङ्ग्रह है। उपर्युक्त विवरण के आधार पर इनका स्थितिकाल ई० सन् १३६५ से १४७८ तक का माना जाता है, क्योंकि इनके परमगुरु जयसिंह सूरि की कृति कुमारपाल-चरित का रचनाकाल ई० सन् १३६५ है तथा रम्भामञ्जरी की एक हस्तप्रति का लेखनकाल ई० १४७८ है। अतः इसका मध्यवर्ती समय ही नयचन्द्र का स्थितिकाल है। यह स्पष्ट है कि यह काल पन्द्रहवीं शती का पूर्व भाग है। नयचन्द्र एक जैन साधु थे किन्तु उनके हम्मीरकाव्य तथा रम्भामञ्जरी के आरम्भिक पद्यों में जैन तथा पौराणिक एवं वैदिक देवता विष्णु के वराहरूप की भी वन्दना की गयी है। अतः वे एक उदार तथा सभी देवों पर शद्वालुभाव वाले विद्वान् भी थे, यह प्रकट होता है।

रम्भामञ्जरी

कथा संक्षेप—इसमें भगवान् वराह तथा मदन की प्रवृत्तियों का युवतियों के मानसों द्वारा स्वागत भाव में ग्रहण रूप 'नान्दी' के पश्चात् सूत्रधार कामदेव का आवाहन कर भगवान् शिव एवं पार्वती की महिमा का गुणगान करता है। वह नायक जैत्रचन्द्र की महिमा बतलाते हुए सूचित करता है कि उनकी सात रानियों के बाद भी पृथ्वीपति पद प्राप्ति के लिए वह रम्भामञ्जरी को आठवीं रानी बना कर विवाह कर रहा है। जब यह अपनी सभी रानियों के साथ आता है तो आम्रमञ्जरियों पर आसीन कोकिलाओं के मधुर स्वर से इनका स्वागत होता है। तब महाराज जैत्रचन्द्र तथा महारानी भी एक दूसरे का स्वागत करते हैं, पर उसी समय विदूषक का कर्पूरिका दासी से कलह होने लगता है और वह सेविकाओं के उपहास का लक्ष्य हो जाने से खिसिया कर चला जाता है। रानी चन्द्रोदय का वर्णन करती है, परन्तु महाराजा नारायणदास की प्रतीक्षा करता है जो कि रम्भामञ्जरी का समाचार लाने वाला है। नारायणदास तभी वधूरूप में अलंकृत रम्भामञ्जरी को साथ लेकर वहाँ आता है तथा बतलाता है कि यह रम्भामञ्जरी कीमिर-

वंशीय देवराज की पोत्री तथा लाटदेश के राजा मदनवर्मा को कन्या है, जो पार्वती के समान अनिन्द्य सुन्दरी है। इसकी सगाई राजा हंस के साथ पूर्व में हो गयी थी तथा इसे कंकण बैध जाने पर (तथा विवाह के कुछ ही समय पूर्व) उसी के मामा शिव के द्वारा अपहरण कर यहाँ पहुँचाया गया है। विदूषक महाराज जैत्रचन्द्र से रम्भामञ्जरी के विवाह हो जाने का समाचार दे देता है। प्रातः काल हो जाने से रम्भामञ्जरी को अन्तःपुर भेजा जा चुका था तथा उसके चले जाने के कारण महाराज जैत्रचन्द्र की प्रणय-व्याकुलता बढ़ जाती है। वह नायिका के विषय में जानने के लिए उत्सुक हो उठता है, तभी कर्पूरिका दासी महाराज को सूचना देती है कि रम्भामञ्जरी अन्तःपुर में प्रसन्न है तथा उसने आपको एक प्रेमपत्र भी भेजा है। विदूषक अपने स्वप्न की बात कह कर राजा से उसके मिलन की सलाह देता है। कर्पूरिका अशोक वृक्ष की शाखा के सहारे रम्भामञ्जरी को खिड़की से नीचे लाने की व्यवस्था करती है। महाराज तथा रम्भामञ्जरी प्रेमाकुल होकर एक दूसरे से मिलते हैं, परन्तु तभी ज्येष्ठ महारानी के वहाँ आ पहुँचने के कारण रम्भामञ्जरी वहाँ से प्रस्थित हो जाती है। वहाँ महारानी अपना विरह दरणा कर महाराज का स्वागत करती है। प्रेमानन्द के पश्चात् महाराज महादेवी से रम्भामञ्जरी के मिलन की अनुमति ले लेते हैं, जिसे वह प्रसन्नता से स्वीकार कर लेती है। अब पुनः महाराज की रम्भामञ्जरी से भेट होती है तथा वे एक दूसरे का प्रेम पूर्ण स्वागत एवं अभिनन्दन के साथ प्रेमालापादि से रात्रि व्यतीत करते हैं और रम्भामञ्जरी पुनः अन्तःपुर में प्रस्थान कर जाती है।

नयचन्द्र की इस कृति में स्पष्ट ही कर्पूरमञ्जरी सटूक का अनुकरण है। जैसे वसन्तऋतु का महाराज तथा महारानी द्वारा वर्णन, विदूषक तथा दासी का वाक्कलह, विदूषक का अप्रसन्न होकर राजमहल से चले जाना आदि। ये सभी घटनाएँ कर्पूरमंजरी में भी परिलक्षित होती हैं। दोनों सटूकों में विचारसाम्य भी मिलता है तथा अन्तर भी। यद्यपि कर्पूरमंजरी में कथावस्तु विस्तीर्ण नहीं है, परन्तु रम्भामंजरी में तो वह और भी अत्यल्प हो गयी है। दूसरी बात यह भी है कि राजशेखर की तरह नयचन्द्र कवि के पद्मों में धारावाहिकता का अभाव है। हाँ, नयचन्द्र के संस्कृत पद्म उनके कवित्व एवं पाण्डित्य को अतिशय प्रदर्शित करने में समर्थ हैं। एक सटूक के रूप में रम्भामंजरी कोई अनुकूल प्रभाव अंजित नहीं करता

तथा एक सम्यदर्शक महाराजा की प्रेमानुर काम-लीलाओं को रंगमंच पर स्वीकार करे, यह एक आश्चर्यकारक बात ही होगी। फिर यह सटूक भी तीन यवनिकान्तर का है तथा महाराज जैत्रचन्द्र के पृथ्वीपति (सम्राट्) बनने की आकांक्षा की भी पूर्ति नहीं दिखलायी गयी है। इसमें वह प्रथम यवनिकान्तर में रम्भामञ्जरी से विवाह करता है तथा दूसरी एवं तीसरी यवनिकान्तर में उसके साथ प्रणव-व्यापार में लीन दिखलाई देता है। इससे स्पष्ट है कि या तो यह सटूक अधूरा है या फिर रचनाकार ही अगली अनपेक्षित बात टाल गया है, जिसे सूत्रधार ने भी अष्टमविवाह करने के उद्देश्य में बतलाया था। इस तीन यवनिकान्तर के बाद होने वाली अप्रत्याशित समाप्ति तथा भरतवाक्य की अनुपलब्धि से हमारे उपर्युक्त विकल्प को ही सहारा मिल रहा है।

भाषा—इस सटूक में संस्कृत तथा प्राकृत, दोनों भाषाओं का प्रयोग प्राप्त होता है तथा अभिनेता, रानियाँ, नायिका, प्रतिहारी आदि सभी पात्र प्राकृत-भाषी हैं, किन्तु कुछ कथन संस्कृत भाषा में भी है। इसमें सूत्रधार, महाराजा, नारायणदास तथा मञ्जलपाठक के संभाषण संस्कृत भाषा में भी हैं, जब कि इनके ही पद प्राकृत तथा संस्कृत दोनों में हैं। यही बात नान्दी पद में भी है तथा प्रतिहारियों के गान में भी।

भाषा-विधान के अनुसार सटूक में नायक के लिए संस्कृत भाषा का भी समावेश मान्य है, तदनुसार राजा द्वारा यहाँ संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है। परन्तु यहाँ राजा के अतिरिक्त अन्य पात्र भी संस्कृत का प्रयोग करते हैं, जो वास्तव में एक प्रथा ही होगी, यह स्पष्ट है। इसी क्रम में प्रस्तुत सटूक में बन्दी द्वारा स्तुति-गान में संस्कृत, प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश (के अन्तर्गत आरम्भक मराठीभाषा) का भी प्रयोग किया गया है जो ध्यातव्य है।

कर्पूरमञ्जरी तथा रम्भामञ्जरी

कर्पूरमञ्जरी तथा रम्भामञ्जरी का अवलोकन करने से दोनों में कुछ समानताएँ भी परिलक्षित होती हैं। इनमें प्रथम दृष्टि में राजा का नायिका के प्रति आकृष्टि पद्धति है।

१. दृष्टि० रम्भा मंज० (१० ११) ‘जरी पेखला मस्तकावरी केशकलापु’ इत्यादि पद्धति।

होना, विद्युपक तथा दासी का वाक्कलह, नायिका का सौन्दर्य वर्णन, दोनों का उद्यान में मिलन, महारानी द्वारा नायिका को नियन्त्रित करना आदि। इसी प्रकार वसन्त वर्णन से एक दूसरे का अनुरक्षन तथा विद्युपक की परिहास भरी उक्तियों की समानता से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नयचन्द्र ने राजशेखर का पर्याप्त अनुकरण किया है। दोनों हो सटुकों में कनिष्ठा नायिका के नाम पर ही सटुक का नामकरण हुआ है तथा अन्य स्थितियाँ भी समानता लिये हुए हैं, जिनमें शुभलक्षणों वाली राजकन्या को अपहरण या प्रभाव से लाकर प्रस्तुत कर देना तथा ज्येष्ठ महादेवी का इष्ट्याभाव से ग्रसित रहना। सटुक के आरम्भ में नयचन्द्र द्वारा राजशेखर के दिये गये सन्दर्भ से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सटुक कर्पूरमङ्गली पर निर्भर है तथा अनेक तथ्यों और रुद्धियों का वहीं से ग्रहण हुआ है। इतना होने पर भी तृतीय यवनिकान्तर के बाद इसकी प्राप्ति न होने या रचना न की जाने के कारण यह अधूरा ही है, जिसका कारण जैत्रचन्द्र के पृथ्वीपति द्वनने की बात को किसी अज्ञात कारणवश लेखक ने टाल दिया है या वह आगे पूरा ही नहीं कर पाया होगा, यही प्रतीत होता है।

मार्कण्डेय तथा उनकी विलासवती

मार्कण्डेय प्राकृत भाषा के पण्डित तथा रचनाकार होने के साथ-साथ 'प्राकृत-सर्वस्व' नामक व्याकरण के प्रणेता आचार्य भी थे। प्राकृत व्याकरण के क्षेत्र में मार्कण्डेय का महत्वपूर्ण योगदान तथा स्थान है। इनने अपने इस ग्रन्थ की रचना उत्कल प्रदेश के अधिपति श्रीमुकुन्ददेव के शासनकाल में की थी। श्रीमुकुन्ददेव का उड़ीसा में सत्रहवीं शती में शासन रहा था। अतः मार्कण्डेय का स्थितिकाल भी सत्रहवीं शताब्दी ही निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त इनका अधिक परिचय उपलब्ध नहीं होता। अपने व्याकरण ग्रन्थ में दिये गये एक उद्धरण^१ से ज्ञात होता है कि मार्कण्डेय ने एक सटुक की भी रचना की थी, जिसका नाम 'विलासवती' था। विलासवती नायिका के नाम पर इस सटुक की रचना की गयी होगी, यह तो नाम से स्पष्ट ही है। प्राचीन काल में विलासवती नायिका के नाम पर अनेक

१. द्रष्ट० प्राकृतसर्वस्व—५।१३१—कवचिन्न तादध्येऽ। तादध्येऽ विद्वितायाः चतुर्थ्याः पष्ठी न स्यात्। 'सुहात्र रज्जं किर होई रण्णो' इति मम विलासवती सट्ट्ये ।

कथाएँ प्रचलित रहीं थीं, जिनमें हरिभद्रसूरि तथा साधारण कवि की कथाओं में विलासवती का नाम प्राप्य है। अतः इन्हीं आख्यानों के या फिर किसी कल्पित आख्यान को लेकर विलासवती की रचना हुई होगी। विश्वनाथ कविराज प्रणीत साहित्यदर्पण में जिस विलासवती का उल्लेख है, वह नाटघरासक है तथा मार्कण्डेय का पूर्वभावी भी; अतः उससे यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं आता। सम्प्रति ये सभी अप्राप्य हैं।

श्री रुद्रदास तथा उनकी चन्द्रलेखा

चन्द्रलेखा सट्टक के वर्ता श्री रुद्रदास के विषय में अधिक विवरण प्राप्त नहीं होता। चन्द्रलेखा सट्टक की स्थापना (प्रसावना) में जो इनका परिचय विवरण मिलता है, तदनुसार इसके रचयिता का नाम रुद्रदास है, जो ब्राह्मणों के चरणों में सेवारत पारशत्र वंश के थे तथा जिनने उन्हीं से ज्ञानार्जन कर साहित्य निर्माण किया तथा अपने साहित्यिक कर्तृत्व एवं सेवा में ख्याति अर्जित की थी। ये साहित्य में ख्याति-प्राप्त श्रीकान्त पण्डित के शिष्य थे। पारशव के स्तररूप के विषय में धर्म-शास्त्रीय विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं; पारशव ब्राह्मण-पुत्र होते थे, जो किसी अब्राह्मण स्त्री के संसर्ग या विवाह से उत्पन्न होते थे। इतना रहने पर भी इनका महत्त्व भारत में रहा था। केरल में पारशवों को वरियर या वरियाराज कहा जाता है, जिनका काम मन्दिरों की सफाई तथा पूजा सामग्री का निर्माण करना होता है। इन्हें समाज में ब्राह्मणेतर जाति समझा जाता है। पारशव प्राचीन काल से ही केरल में संस्कृत या प्राकृतादि साहित्य के विद्वान् होते रहे हैं। श्री रुद्रदास के गुरु श्रीकान्त भी कदाचित् पारशव हों या वे भी इस वंश के न रहे हों, यह जात नहीं है।

रुद्रदास को कालिकट के राजाओं का संरक्षण प्राप्त था तथा वे राजा मानवेद के समकालीन तथा आश्रित थे। इनमें राजा मानवेद प्रथम तो रुद्रदास का अति आदर करते ही थे तथा उनने अपने भतीजे तथा उत्तराधिकारी मानवेद द्वितीय की शिक्षादीक्षा का प्रबन्ध इन्हीं रुद्रदास की देखरेख में किया था। ये मानवेद द्वितीय १० सन् १६४८ में सिंहासनासीन हुए थे तथा इनका शासन चार वर्ष तक रहा। इनकी सभा में प्रसिद्ध कवि चिदम्बर भी थे, जिनने 'लक्ष्मीमानवेदम्' नामक नाटक लिखा,

जिसमें इनकी प्रसिद्धि तथा ज्ञान, जिज्ञासुना तथा संरक्षण की प्रवृत्तियों का मुन्दर विवरण दिया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि राजा मानवेद द्वितीय रुद्रास के आश्रयदाता थे, जिनका चन्द्रलेखा में नायक के रूप में चित्रण हुआ है। अतः चन्द्रलेखा का रचनाकाल ई० १६६० के लगभग (सत्तरहृती शती का उत्तरार्ध) माना जाना चाहिए।

चन्द्रलेखा—

कथा-संक्षेप—अंगदेश के महाराज चन्द्रवर्मा की चन्द्रलेखा नामक एक अत्यन्त मुन्दरी कन्या थी, जो कुछ दैवी गुणों से सम्मन्न भी थी। उसके शरीर पर ऐसे लक्षण विद्यमान थे, जिनके विषय में भविष्यवाणी की गयी थी कि जिससे इस कन्या का विवाह होगा वह निश्चित ही विपुल राज्य का अधिपति होगा। अतः स्वाभाविक ही था कि यह कन्या तात्कालीन अनेक राजाओं के आकर्षण एवं कामना का केन्द्रविन्दु हो गयी थी।

राजा मानवेद भी एक मुयोग्य एवं महत्वाकांक्षी राजा थे। वसन्त-ऋतु के समय उन्हें राजा सिन्धुनाथ ने चिन्तामणि नामक एक अपूर्व मणि भेंट की। इस मणि के प्रभाव के विषय में यह प्रचलित था कि यह मणि मनवाच्छित वस्तु की प्राप्ति में पूर्ण समर्थ है। राजा ने भेंट में प्राप्त ऐसी चमत्कारी मणि के परीक्षार्थ विदूषक के परामर्श पर ऐसी एक अपूर्व कन्या को लाने की इच्छा की। चिन्तामणि के सामर्थ्य से अङ्गदेव की कन्या चन्द्रलेखा—जो अपने चम्पा उद्यान में क्रीडारक थी—अपहृत होकर राजा मानवेद के अन्तःपुर में स्थापित हो गयी।

इस चन्द्रलेखा के विषय में महारानी को कुछ भी ज्ञात नहीं था। केवल यह रहस्य चिन्तामणि देवी तक ही सीमित था। महारानी भी इस अपूर्व मुन्दरी कन्या को देखकर विस्मित तथा प्रसन्न हो गयी थी। राजा ऐसो कन्या को देखकर प्रेमाकुल हो उठता है तथा चन्द्रलेखा भी महाराज पर मुग्ध हो जाती है। दोनों ही अनेक उपायों से परस्पर मिलन की अभिलापा रखते हैं, किन्तु यह बात जब महारानी जान लेती है तब वह चन्द्रलेखा को बन्दी बना डालती है।

इधर राजा मानवेद अपने राज्य में विषुवोत्सव का आयोजन करते हैं। इसी अवसर पर विभिन्न देशों के राजाओं के अतिरिक्त चन्द्रलेखा का आता चन्द्रकेतु

भी वहाँ उपस्थित होते हैं तथा अपनी बहिन के अपहरण का वृत्तान्त अपनी माँसेरा वाहन महारानी को बतलाते हैं। इसके साथ ही वही यह भी बतलाते हैं कि वह बहिन (चन्द्रलेखा) अद्भुत, सुलक्षणों से युक्त थी, अतः उससे विवाह करने वाला राजा चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा। इसी कारण उनने उस कन्या का सम्बन्ध महाराज मानवेद से करने का पूर्व में ही निश्चय भी किया था। चन्द्रलेखा को बन्दी बनाये जाने पर इधर महाराज वडे व्यथित तो थे ही, वे चन्द्रकेतु के द्वारा दिये गये इन समाचारों से और दुःखी हुए। इसे सुनकर महारानी भी अतिशय दुःखी होती है।

इधर चन्द्रलेखा के अपहरण का पता छगाने के लिए चारों ओर सैनिकों को भेजा जाता है तथा इसी विपुलोत्सव में उपस्थित राजाओं से भी उसके विषय में पूछा जाता है। अन्त में महाराज मानवेद विवश होकर अपूर्व सामर्थ्य-मणिडत चिन्तामणि से सहायता की याचना करते हैं। चिन्तामणि प्रकट होकर उसी समय चन्द्रलेखा को वहाँ उपस्थित कर देती है, जिसको राजा ने याचना की थी। उस अपूर्वलावण्य-मणिडत कन्या को दखकर सभी प्रसन्न हो उठते हैं। महारानी अपनी बहिन को गले लगा लेती है तथा अनभिज्ञतावश उसे बन्दी बनाने के कारण अपना दुःख प्रकट करती है। तभी चिन्तामणि देवी की आज्ञा स महाराज मानवेद के साथ चन्द्रलेखा का वहीं विद्याह सम्पन्न होता है तथा इस प्रकार महाराज मानवेद चक्रवर्ती सम्राट् बनकर अपनी समग्र अभिलाषाओं की पूर्ति करते हैं।

समीक्षा

चन्द्रलेखा सटुक एक उत्तम नाट्य रचना है, जिसका सोन्दर्य उसके पात्रों द्वारा अधिक निखार पर आया है। इसके सभी पात्र उपयुक्त रखे गये हैं, जिनमें मुख्यपात्रों में महाराजा मानवेद (नायक), महारानी (ज्येष्ठ नायिका), चन्द्रलेखा (नायिका) तथा विदूषक हैं तथा अन्य पात्रों में चन्द्रकेतु, प्रतीहारी, चन्द्रनिका, तमालिका, नक्तमालिका जैसे पात्र हैं। यह सटुक भी अपनी रुढ़ परम्परा तथा आदर्शों से प्रभावित होकर निर्मित है, क्योंकि रुद्रादास को इस स्थिति का पूर्ण ज्ञान था। इसी कारण इसके सभी पात्रों के चरित्र समयानुकूल तथा उपयुक्त हैं। इसका मुख्यरस शृङ्खार है, जिसको विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया गया है। इसमें मणि के चमत्कारी कार्य

द्वारा अङ्गुतरस की भी उद्धावना की गयी है तथा इसमें भी रीढ़, बीर एवं वीभत्सरम का अभाव है। कथावस्तु कोई अधिक विशिष्टता नहीं रखने पर भी नाटिका तथा सटूक के स्वरूप की अनुकूलता लिये हुए है तथा कथामूल को तदनुरूप फैलावा गया है। रुद्रदास ने कथावस्तु को विकसित करने तथा कूट प्रयोगों के उपस्थापन के द्वारा अपनी दक्षता का पूर्ण परिचय दिया है। इसमें लेखक का व्यक्तित्व अपनी कला एवं कवित्व के कारण मुख्य रूप से आँखों के सम्मुख आता है तथा उसकी योग्यता का पदे-पदे परिचय मिलता है।

रुद्रदास की शैली प्रभावोत्पादक है तथा इसमें मौलिकता का सर्वत्र दर्शन होता है। इनका नारो-सौन्दर्य-वर्णन यदि एक ओर नवीनता लिये हुए है तो दूसरी ओर वाक्यशली की प्रौढ़ता तथा जटिलता भी विद्यमान है। रुद्रदास ने सटूक में सन्ध्यज्ञों के प्रयोग के भी कुछ प्रदेश संकेतित किये हैं जब कि शारदातनय आदि ने इस क्रम का लक्षण में अधिक सख्तों से पालन करने का विधान नहीं बतलाया। नाटिका में कथावस्तु का जो उद्देश्य तथा कथावस्तु के विस्तार का आधार होता है, उन सभी की यहाँ साझा उपस्थापना के साथ निर्वाह हरने से यह स्पष्ट ही है कि चन्द्रलेखा सटूक अपने सम्पूर्ण लक्षणों से मणित किया गया है।

भाषा

रुद्रदास ने मर्वत्र (वररुचिकृत) 'प्राकृत-प्रकाश' का अनुगमन किया है। इसमें राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी का अतिनिकट से भाषागत अनुशीलन दृष्टिगत होता है, इन की प्राकृत भाषा में। इतना स्पष्ट है कि रुद्रदास ने प्राकृत गाथा कोशों तथा रावण-वहो जैसे प्राकृतकाव्यों का अवधान-पूर्वक अनुशीलन किया था, किन्तु उनकी एक प्राकृत कवि के रूप में प्राप्त इस सफलता का कारण संस्कृत भाषा तथा साहित्य का गहन अध्ययन भी है। इसी कारण प्राकृत भाषा का यह सशक्त लेखक है तथा इसमें वर्ण्य को प्रस्तुत करने की अङ्गुत क्षमता है। यह स्वाभाविक ही है कि चन्द्रलेखा की प्राकृत में नियमवद्धता की जकड़न से कृत्रिमता का आभास होता है जो तत्कालीन प्रचलित भाषा से भिन्नता लिये हुए है। इसके छन्द तथा प्राकृत गद्यादि को राजशेखर की पंक्ति में रखा जा सकता है। अतः रुद्रदास का विशिष्ट स्थान सटूकों के क्षेत्र में है तथा योगदान भी।

कर्पूरमञ्जरी तथा चन्द्रलेखा

कर्पूरमञ्जरी तथा चन्द्रलेखा में पर्याप्त समानता की प्राप्ति आश्चर्यकारी हैं तथा कर्पूरमञ्जरी के कुछ तथ्यों से चन्द्रलेखा की अतिथय समानता है भी। उदाहरणार्थ—कर्पूरमञ्जरी की प्रस्तावना तथा चन्द्रलेखा की स्थापना, महाराज, महादेवी तथा विदूषक के वसन्तवर्णन, राजाओं के द्वारा महाराज का अभिनन्दन, विदूषक तथा दासी का वादविवाद तथा नायिका के रूप लावण्यादि का आकर्पक वर्णन आदि।

इसी प्रकार जैसे कर्पूरमञ्जरी में महाराज नायिका के सौन्दर्य का चिन्तन करते हैं तो चन्द्रलेखा में भी राजा नायिका की सुन्दरता का चिन्तन करता है। कर्पूरमञ्जरी में राजा नायिका को झूलते हुए देखते हैं तो चन्द्रलेखा में सङ्गीत गोष्ठी में वही नायिका को देखता है। नायिका को देख कर उसका नायक एवं विदूषक के द्वारा वर्णन करना, उदान में नायक एवं नायिका का मिलन तथा महारानी के द्वारा नायिका का बन्दी बनाना, दोनों सटुकों में समान रूप में मिलता है। अतः ऐसी समानताओं के आधार पर यह निष्कर्ष सहज ही निकलता है कि रुद्रदास ने अपने पूर्वभावी आचार्य राजशेखर का अनुसरण किया है।

परन्तु इन बातों के अतिरिक्त चन्द्रलेखा में कुछ विशिष्ट बातें भी हैं, जो इसे भिन्नता भी देती हैं। इसमें नायिका को कलादक्ष एवं परम सुन्दरी के रूप में एक संगीत-गोष्ठी में दिखलाया गया है। इसी प्रकार राजभवन में प्रतिमा के मुळ में अवस्थित हो कर सारिका का सभी वृत्तान्त सुन लेना तथा उसे महारानी के आगे कहना आदि, ये सभी रुद्रदास की विशिष्ट प्रतिभा तथा प्रयोगगत नवीन सुधारों के परिचायक भी हैं।

विश्वेश्वर पाण्डेय तथा उनकी शृङ्गार-मञ्जरी—इस क्रम में रुद्रदास के पश्चात् अठारहवीं शती के विश्वेश्वर पाण्डे की प्रस्तुत कृति शृङ्गारमञ्जरी-सटुक आती है, जिसका अन्त में यथाक्रम विस्तार से विवरण दिया जा रहा है।

कवि घनश्याम एवं उनकी आनन्द-सुन्दरी

कवि घनश्याम का संस्कृत के अन्य रचनाकारों की तरह जीवन-विवरण तथा

स्थितिकाल सन्दिग्ध नहीं है। ये चन्दोजी बालाजी कवि के पौत्र तथा महारेव और काशीबाई के पुत्र थे। इनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम ईश तथा बहिन का नाम शाकम्भरी था। इनकी सुन्दरी तथा कमला नामक दो विदुपी पत्नियाँ थीं तथा चन्द्रशेखर तथा गोवर्द्धन नामक दो पुत्र थे। अन्य समसामयिक विवरणों से यह भी ज्ञात होता है कि थी घनश्याम कवि का जन्म १७०० ई० में हुआ था और ये ५० वर्ष तक जीवित भी रहे थे। जब इनकी आयु २९ वर्ष की थी, तभी ये तुकड़ोजी प्रथम के मन्त्री हो गये थे (जिनका स्थितिकाल ई० १७२९-३५ तक था)। इनकी जन्मभूमि महाराष्ट्र देश में रहने पर भी ये मन्त्री की दैसियत से तञ्जीर में रहते थे, इनका समग्र परिवार धर्मपरायण तथा साहित्य में रुचि रखने वाला था। इनका ज्येष्ठ बन्धु ईश अपनी अन्तिम अवस्था में संन्यासी हो गया था; तब उनका नाम विदम्बर व्रह्मचारी हो गया था। इनकी पत्नियाँ कमला तथा सुन्दरी दोनों ही संस्कृत में विदुपी तथा प्रीढ़ साहित्यिक योग्यता-मणित थीं। इसी कारण ये प्रायः अपने स्वामी की ग्रन्थों की टीका तथा साहित्य-लेखन में सहायता किया करती थीं। इनके पुत्र चन्द्रशेखर ने भी अपने पिता की रचना डमरुकम् की एक टीका लिखी थी। उनके दूसरे नेत्रहीन पुत्र गोवर्द्धन ने भी घटकपर्काव्य पर टीका लिखी थी। स्वयं घनश्याम भी सर्वज्ञकवि, कविकण्ठीरव तथा महाराष्ट्र-चूड़ामणि जैसी कई विरुद्ध धारण किये थे, जो उनके ग्रन्थोंमें निर्दिशित भी हैं।

रचनाएँ तथा पाण्डित्य :—

घनश्याम कवि ने भी राजशेखर की भाँति अपने को सरस्वती का अवतार माना जो स्वाभिमान मात्र नहीं था। इनने कई ग्रन्थों की रचना की थी तथा जीवन के बाहरवै वर्ष से ही इनने साहित्य-लेखन आरम्भ कर लिया था। इनके ग्रन्थों की रचना के विवरण के अनुसार ६४ ग्रन्थों की रचना केवल संस्कृत में की तथा कुछ श्राङ्कृत तथा भाषा में भी। इस प्रकार इनके समग्र ग्रन्थों की संख्या एक सौ नौ (६४ + २० + २५ = १०९) है। इनमें नाट्य-साहित्य, काव्य, पुराण, चम्पू तथा टीकाएँ सभी हैं। इसके अतिरिक्त इनने कुछ शास्त्रीय प्रबन्धों की भी रचना की थी—जो व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि पर थे। संक्षेप में यही कहा जा

सकता है कि ये अलौकिक प्रतिभा एवं शक्ति-सम्पन्न अश्रान्त लेखक थे। इन्हें उत्तर रामचरित की टीका शिवरात्रि के रात्रिजागरण तथा दिन के एक समय भाग में पूर्ण कर डाली थी। अहंकार की भावना सदा इनकी रचनाओं से प्रकट होने के कारण समसामयिक विद्वानों में ये अधिक लोकप्रिय न हो सके तथा इनके आश्रयदाता तुकोजी के निधन पर इन्हें जीवन में भारी आघात लगा। ये सर्वभाषा-कवि तथा सात-आठ भाषाओं एवं लिपियों के ज्ञाता थे।

आनन्द सुन्दरी—

कथा-संक्षेप—महाराज शिखण्डचन्द्रदेव पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से चन्द्रदेव की पुत्री से विवाह करता है तथा चक्रवर्ती सम्राट् हो जाता है।

अंगदेश के महाराज ने अपनी पुत्री आनन्दसुन्दरी को महाराज की धर्मपत्नी बनने के लिए तथा अनुराग-प्राप्ति हेतु भेज दिया था, जो महारानी के भय से पिङ्गलक पुरुष का वेप धर कर अन्तःपुर में पहुँच गयी। उत्तोतिपियों ने भविष्यवाणी की थी कि यह चक्रवर्ती की पत्नी होकर एक पुत्र को जन्म देगी।

किसी समय महाराज कवि पारिजात की रचित आनन्दसुन्दरी नाट्यरचना को देखने की इच्छा करता है, जिसमें आनन्दसुन्दरी के लाने की कथा दिखलायी गयी थी। पिङ्गलक तथा मन्दारक भी इसमें आमन्त्रित किये जाते हैं तथा सभी इस नाट्य-प्रयोग (गर्भाद्वारा) को देखते हैं। इस नाट्य अभिनय के बीच महाराजा आनन्दसुन्दरी के रूप सौन्दर्य की कल्पना में मग्न हो जाते हैं, जिसे देख महारानी नायिका आनन्दसुन्दरी को अपने नियन्त्रण में रख लेती है। पारिजात कवि उनका अन्यत्र ध्यान बैठाने के लिए अपने काव्य की चर्चा करते हैं, पर महाराज नायिका के कष्ट तथा दुर्भाग्य से दुःखी रहते हैं। पारिजात कवि के काव्यकौशल में सन्तुष्ट हो महाराज उसे समग्र राज्य देने की बात कहते हैं परन्तु वह अपने कवि-साम्राज्य को महत्वशाली दिखलाकर दिये गये राज्य को स्वीकार नहीं करता। महाराज इसी बीच महारानी की प्रसन्नता में ही नायिका का हित मानकर महारानी को मनाने में सफल हो जाता है, जिसके फलस्वरूप महारानी आनन्द-सुन्दरी से महाराज के विवाह करने की अनुमति दे देती है। इसी समय महामन्त्री डिण्डीरक दिग्-विजयी होकर लौटते हैं। आनन्दसुन्दरी के पुत्र-जन्म से सभी

प्रसन्न हो उठते हैं तथा महारानी उसका नाम आनन्दचन्द्र रख कर स्नेह से महाराज की गोद में रख देतो हैं तथा ऐसे आनन्द पूर्ण-व्रातावरण से सभी प्रसन्न हो जाते हैं।

समीक्षा

घनश्याम कवि ने अपने सट्टक की कथावस्तु पर्याप्त रूप में स्वतन्त्र ही ली है तथा वे कर्पूरमञ्जरी जैसे सट्टक का कुछ ही मात्रा में अनुसरण करते प्रतोत होते हैं। इसमें दो गर्भ-नाटक या गर्भाङ्गों की योजना रखना इस रचना की विशेषता है। वे सट्टक के लिए गर्भाङ्ग की योजना की द्विमायत भी करते हैं। इनके प्रथम गर्भनाटक में एक दृश्य द्वारा राजा को ध्यानपूर्वक नायिका को समीप से देखने तथा उसके शारीरिक लावण्य से आकृष्ट होने के लक्ष्य को साथा गया है। द्वितीय गर्भ-नाटक में उस दृश्य को बतलाया गया है, जहाँ जहाजी युद्ध में महामन्त्री डिण्डीरक विभाण्डक नामक शत्रु राक्षस के दुर्ग पर आक्रमण कर उसे अपने वुद्धिकीशल से परास्त कर देता है।

कवि घनश्याम अभिव्यक्तियों के घनी थे तथा वे उन परवर्ती रचनाकारों में से ये जिनने अनेक भाषाओं को स्वस्यता एवं सरलता से सञ्चालित किया था। इनकी प्राकृत भाषा वररुचि के प्राकृतप्रकाश का मुख्यरूप से अनुसरण करती है तथा प्राकृत के सभी मार्ग एवं प्राचीन रूपकों के प्रभाव को घनश्याम कवि की भाषा पर देखा जा सकता है। इस प्रसंग में देखा जाय तो इनके पूर्वभावी कवि विश्वेश्वर पाण्डेय के प्राकृतभाषा के प्रयोग घनश्याम की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक थे, जो आगे दिखलाये जायेंगे। इनकी कविता सरलता से मणित रहने पर भी कवि के विस्तीर्ण ज्ञान तथा विपुल शब्द-प्रयोग की क्षमता को निर्दर्शित करती है। प्रायः सर्वत्र वैदर्भी शैलों का कविता में अनुसरण हुआ है तथा इसी के अनुसार भाषाओं का भी सञ्चालन किया गया है। रचना में प्राप्त लम्बे वर्णनों ने कवि को अपने ज्ञान तथा व्यक्तित्व को उभर कर लाने के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान किये हैं।

१. दृष्ट०—(आनन्द स०—प० ४४ —) ‘अप्राकृतमिव नाटकन्, अगर्भनाटकमिव सट्टकम् अनट्टककर इव सत्कविरुपहासभाजनं भवति ।’

कर्पूरमञ्जरी तथा आनन्दसुन्दरी—

आचार्य राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी तथा घनश्याम की आनन्दसुन्दरी को देखने से स्पष्ट है कि कवि ने कर्पूरमञ्जरों को ही अपना अदर्श मान कर आनन्द-सुन्दरी की रचना की थी, फिर भी अपनी कल्पना के द्वारा इसमें घटनाक्रम को नया मोड़ दिया गया है। आनन्दसुन्दरी में कई स्थानों पर कर्पूरमञ्जरी से घटना-साम्य दिखलाई देता है। यथा—विदूषक तथा राजा के द्वारा नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करना, विरह में नायक तथा नायिका की व्याकुलता, विदूषक तथा चेष्टी में कलह् तथा परिहास आदि। इसके साथ ही कुछ विचार-साम्य भी हैं—यथा नायिका का दैवीय लक्षणों से युक्त होना, महारानी का ईर्ष्याविश नायिका को कष्ट पहुँचाना तथा अन्त में उसी के द्वारा नायिका के विवाह को सम्पन्न करवाना इत्यादि बातें समान हैं।

उपर्युक्त समानताओं के अतिरिक्त इसमें कुछ भिन्नता भी है। यथा—इसमें नायिका कर्पूरमञ्जरी को तरह सद्यः-स्नाता नहीं, बल्कि पिङ्गलक के वेष में अन्तःपुर में रखी हुई दिखलायी गयी है। इसके अतिरिक्त इसमें दो बार गर्भ-नाटकों के प्रयोग रखे गये हैं तथा ये उस उपकथा को प्रस्तुत करते हैं जो स्वयं अज्ञभूत कथांश हैं प्रमुख कथा का ही। अपनी इस नवीन पद्धति को कवि ने मोलिकता के साथ रखा भी है। इसके अतिरिक्त उदासीन महाराज को पारिजात कवि के द्वारा अपनी कविता के द्वारा आकृष्ट करना, मन्त्री छिण्डीरक के द्वारा विभाण्डक राक्षस को पराभूत करना तथा विदूषक एवं नायक के द्वारा एक एक पंक्ति में क्रमशः नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करना तथा नायिका के पुत्रोत्पत्ति के साथ ही नायक को चकवर्तित्व की उपलब्धि। ये सभी बातें भिन्नता के साथ-साथ अपनी विशेषता को उपस्थापित कर रचना को मोलिकता प्रदान करती ही हैं।

विश्वेश्वर पाण्डेय कृत शृङ्गारमञ्जरी सटूक

कथा-संक्षेप—उपवन में महाराज राजशेखर के साथ उनके मित्र विदूषक के विहार के समय वे उसे स्वप्न में देखो हुई एक अतिशय रूपवती सुन्दरी की बात कह कर उसका स्वरूप बतलाते हैं। इसी समय महारानी की एक सेविका वसन्त-तिलका भी चुपचाप उसी उपवन में आकर महाराज की यह बात सुन लेती है।

तब विदूपक उस प्रसंग को दासी से पूछने लगता है। दासी स्वप्नदृष्ट नायिका के चित्र की रूपरेखा महाराज के द्वारा बनवा कर उन्हें सूचित करती है कि यही (तो) मेरी प्रिय सखी शृङ्गारमञ्जरी है, जो अन्तःपुर में ही रहती है। इसे साहित्यशास्त्र के रस-सिद्धान्त का (परिपक्व या पूर्ण) ज्ञान प्राप्त है तथा महाराज के प्रति इसका अनुशाग भी हो गया है। दासी की बात से महाराज भी उसके प्रति आकृष्ट होकर उसके मिलन की आकांक्षा करते हैं।

विदूपक महाराजा के साथ शृङ्गारमञ्जरी के मिलन के उपाय पर विचार कर ऐसे एक वादविवाद पर महारानी के सामने ही दासी से झगड़ने लगते हैं। इनके विवाद को शास्त्रार्थ के रूप में निर्णय देने हेतु महारानी अपने अन्तःपुर में महाराज के साक्षी मात्र की स्थिति का विचार कर शृङ्गारमञ्जरी को ही मध्यस्थ बना देती है, क्योंकि मध्यस्थ शास्त्रज्ञ भी होना चाहिए यह विदूपक की मांग थी। इस गोष्ठी में महाराज तथा महारानी भी वहीं बैठते हैं तथा वहीं शृङ्गारमञ्जरी विदूपक के साथ होने वाले रस-शास्त्रीय विवाद को सुनती है। महाराज यहाँ विशेष रूप से शृङ्गारमञ्जरी को देख कर उस पर अतिशय आकृष्ट हो जाते हैं तथा (यह) नायिका भी इसी प्रसङ्ग से महाराज को सभीप से देखने का अवसर प्राप्त कर लेती है। इस बात का महारानी को भी पता चल जाता है और वह विदूपक और वसन्त-तिलक का भविष्य में मिलना बन्द कर उन्हें अलग-अलग बन्दोगृह में बन्द करवा देती है तथा शृंगारमञ्जरी को भी अज्ञात स्थान पर बन्दी बना कर रखवा देती है।

जब महाराज राजघोखर को यह समाचार मिलता है तो वे अतिशय दुःखी और निराश हो उठते हैं। तभी उनके सभीप विदूपक आता दखलाई पड़ता है, जिससे राजा तुरन्त नायिका के समाचार पूछता है। विदूपक इसी प्रसंग में उन्हें बतलाता है कि महारानी जब भगवतो पार्वती की अर्चना कर लौट रही थीं तो उन्हें दिव्यवाणी में सुनाई दिया कि अपने स्वामी की सेवा करना ही पतिन्रता का धर्म होता है; अतः उसे किसी निरपराध कन्या को कष्ट देना उचित नहीं है। ऐसी वाणी सुनते ही विचार कर महारानी ने वसन्ततिलका दासी और मुझे कारागार से मुक्त कर दिया है तथा अपने हाथों शृंगारमञ्जरी को भी कारागार से निकलवा कर मण्डित किया है। महाराज इस समाचार को सुनकर हृषित हो उठते

हैं तथा महारानी भी तभी शृङ्खरमञ्जरी को अपने साथ लाकर उससे महाराज के विवाह करने पर अपनी सहमति दिखलाती है। तभी महामात्य वहाँ आकर महाराज को चक्रवर्ती बन जाने के उपलक्ष में अभिनन्दन करते हुए बतलाते हैं कि—“एक बार में आपके दिश्वजय प्रसंग में जब एक घने अरण्य में धूमते हुए अपने सैनिकों से अलग हो गया तो मैंने एक अति कृष्णवर्ण राक्षस के द्वारा अपहरण कर ले जायी जाने वाली एक कन्या को आकाश में देखा। कन्या के बिलाप को सुन कर दयाद्वारा हो मातङ्ग ऋषि ने उस राक्षस को अपने बठोर नेत्रों से ज्यों ही देखा तो वह राक्षस कन्या के साथ पृथ्वी पर आ गिरा और एक सुन्दर पुरुष के रूप में वहाँ दिखलाई देने लगा। उसने पूछने पर बतलाया कि वह भगवती गौरी का पार्षद था जो गौरी के ही शाप से राक्षस हो गया था। यह कन्या अवन्तिराज जटाकेतु को भगवती गौरी के प्रसाद से प्राप्त हुई थी। तब ऋषि ने कहा कि इस कन्या से जो भी विवाह करेगा, वह चक्रवर्ती सम्राट् होगा तथा यह कन्या थोड़े कष्ट के बाद अपने इष्ट पति को प्राप्त कर लेगी। यह जान कर मातङ्ग ऋषि से इस कन्या को प्राप्त कर यहाँ ले आया तथा वह पार्षद भी अपने स्थान पर चला गया।”

इस समाचार को सुनकर महारानी को खेद होता है कि जिस शृङ्खरमञ्जरी को कष्ट दिया था, वह तो उसकी अपनी ही आत्मीय है। वह अपने द्वारा दिये गये कष्ट के लिए दुःख प्रकट करते हुए तुरन्त दोनों का विवाह सम्पन्न करवा देती है। महाराज से महामात्य अन्य प्रीति के कार्य करने की बात पूछते हैं तो महाराज अमात्य के उद्योग से अभीष्ट प्राप्ति के आनन्द की बात कह कर प्रसन्न हो उठते हैं। सभी प्रसन्नताक साथ भरतवाक्य कह प्रस्तुत प्रकरण को समाप्त करते हैं।

कथावस्तु समीक्षा:

इसमें शृङ्खरमञ्जरी तथा महाराज राजशेखर की प्रणय-कथा वर्णित है तथा ये दोनों ही फल के भोक्ता भी हैं। इसमें दासी तथा विदूषक की तर्क-पूर्ण प्रणाली में चलने वाली विवाद-गोष्ठी प्रथम यवनिका म रखा गयी है जिससे सृष्टि के आरम्भ को आकर्षक बनाये रखने में सहायता मिली है। विदूषक का दासी के साथ कलह तथा अमात्य के द्वारा कार्य-सिद्धि में महत्वपूर्ण भूमिका

निभाना परम्परागत सदृक तथा नाटिशाओं की रुढ़ियों का अनुगमन है तथा घटनाएँ भी राजकुल को स्थिति के अनुसूच चिह्नित हैं जो तत्कालीन प्रवृत्तियों एवं रुचियों को उद्घाटित करता है।

शास्त्रीय दृष्टि से देखने पर स्पष्ट है कि इसको आधिकारिक कथा-वस्तु में बीज, विन्दु, पताकादि अर्थप्रकृतियों का सम्यक् निर्वाह हुआ है। इनमें फलसिद्धि का प्रथम हेतु बीज है, जिसकी अभिव्यक्ति शृङ्खारमञ्जरी को स्वप्न में देख कर पुनः उसे चित्र में चिह्नित करते हुए देख कर आसक्त हो जाने पर व्याकुल रहने जैसे विवरण तथा नायक के उद्गारों से होती है। इसके पश्चात् बीज भूत अनुराग का उत्तरोत्तर विकास होता है। इसमें विन्दु, पताका आदि भी हैं जहाँ नायक नायिका का पारस्परिक अनुराग, दर्शनाभिलापा तथा मिलन है। इस प्रकार द्वितीय तथा तृतीय यवनिकान्तरों में यह स्थिति अतिच्छब्दन बनी रहती है जहाँ कथा-वस्तु में विन्दु का प्रसार होता है। तृतीय यवनिकान्तर के अन्त में मूल प्रवाह में बाधा आजाने तथा नायिका के कारावास में पहुँचने से पताका तथा प्रकरी का भी निर्वाह हुआ है तथा अन्त में अमात्य के सफल प्रयास द्वारा नायक को नायिका शृङ्खारमञ्जरी की प्राप्ति एवं परिणय के द्वारा कार्य नामक अर्थप्रकृति को साधा गया है।

पांच कार्यवस्थाओं आरम्भ, यन्न, प्राप्त्याशा, नियताःस तथा फलागम की भी इसमें यथोचित योजना की गयी है। इनमें मुख्यफल को सिद्धि के लिए उत्कण्ठा का आरम्भ होना 'आरम्भ' कहलाता है। प्रथम यवनिकान्तर में बीज नामक अर्थप्रकृति के साथ हो आरम्भ का भी उपक्रम हो जाता है। द्वितीय यवनिकान्तर में नायिका के अवस्थानिवेदक पद्म से यही अवस्था और अधिक प्रस्फुटित होती है तथा इसी सन्दर्भ में 'यत्न' का भी आरम्भ हो जाता है, नायक की ओर से यत्न में उसका मित्र विदूपक तथा नायिका की ओर से उसकी मखो वसन्ततिलकः इसमें उद्योगरत रहते हैं। तृतीय यवनिकान्तर में वसन्ततिलका दासी एवं विदूपक के प्रयास से नायक नायिका के मिलन में यत्न की अवस्था फलागम को स्पष्ट दिखलाती-सी प्रतांत होती है। इसी समय महारानी को वस्तुस्थिति का अवगम होता है तथा वह नायिका को कठोर नियन्त्रण में रख देती है। प्राप्त्याशा का यही रूप यहाँ रखा है जब फल-प्राप्ति की सम्भावना धूमिल हो जाय। किन्तु अन्त में दिव्यवाणी द्वारा महारानी को नायिका के हित में प्रवृत्त करवा-

देने से नियताति का आरम्भ हो जाता है जो गृह है क्योंकि तब तक दर्शक नायिका को स्पष्टतः नायक के साथ नहीं देखते हैं। अन्त में शृङ्खारमञ्जरी के महाराज द्वारा पाणिघ्रहण करते ही अमात्य द्वारा उनके चक्रवर्ती हो जाने तथा शृङ्खारमञ्जरी की पूर्व जीवन घटनाओं को कह कर, उसका परिचय देने से स्पष्ट ही 'फलागम' सम्पन्न हो जाता है, जहाँ महाराज राजशेखर की समग्र अभिलापाओं की पूर्ति हो जाती है।

इन अर्थ-प्रकृति तथा अवस्थाओं के क्रमिक संयोग से पांच सन्धियों की उत्त्वावना होती है। अतएव शृङ्खारमञ्जरी के प्रथम यवनिकान्तर में नायिका के स्वन्ददर्शन से लेकर नायिका के ही नायक को अपने प्रणयदशा के सन्देश देने तक मुखसन्धि का विस्तार माना जा सकता है। द्वितीय से तृतीय यवनिकान्तर तक प्रतिमुख सन्धि का क्षेत्र है जहाँ नायक एवं नायिका परस्पर मिलन के लिए प्रयत्नशील होते हैं। नायिका के बन्दी होने में 'गम्भ-सन्धि' है तथा नायिका के बन्धन-मुक्त हो कर विवाह के प्रस्ताव तक के अल्प भाग में विमर्श-सन्धि तथा विवाह के साथ ही फलागम की स्थिति में निर्वहणसन्धि हो जाती है। कथावस्तु के कार्यावस्था, अर्थप्रकृति एवं सन्धियों में समुचित गुम्फन विश्वेश्वर पण्डित के नाट्यशिल्प, गत कौशल का प्रबल आधार है। यह सभी शास्त्रीय पद्धति पर होने से सभी विशेषताएँ इसमें यथास्थान सन्नियोजित की गयी हैं।

शृङ्खारमञ्जरी के पात्र एवं उनके चरित्र :—

विश्वेश्वर पाण्डेय की यह रचना एक पूर्ण लक्षण सटूक है। नाट्य रचना में कथावस्तु का सौन्दर्य अच्छे पात्रों के सहकार से ही निखरता है तथा वह लक्ष्य की ओर भी पहुँचता है। इसी कारण नाट्य या अभिनय को पात्र का आधार लेकर ही प्रस्तुत किया जाता है। अभिनेता जिस किसी भाव को उपस्थापित करता है, वह रसमयता के लिए होता है क्योंकि भाव भी पात्र का आधार लेकर ही प्रवृत्त होता है। इसी कारण नेतृ-परिवार का नाट्य शास्त्र में महत्व है भी। प्रस्तुत रचना में सभी पात्र कथा के अनुसार उपयुक्त रखे गये हैं। इनमें प्रमुख पात्रों में महाराज राजशेखर, महारानी रूपरेखा, विदूषक गोतम, दासी वसन्तातिलका, अमात्य तथा नायिका शृङ्खारमञ्जरी आते हैं। इसी प्रकार गोण-

पात्रों में माधविका दासी, वसन्ततिलका तथा प्रतीहारी जैसे पात्र हैं जो क्रमशः घटनाचक्र को फलागम तक पहुँचाते हैं। आगे इन्हीं का यथाक्रम चरित्र दिया जा रहा है।

महाराज राजशेखर—(नायक) महाराज राजशेखर पुरुष पात्रों में मुहूरपात्र तथा नायक है जिनमें धीरलित नायक के सभी गुण विद्यमान हैं। वे सौन्दर्य-प्रेमी हैं तथा जब स्वप्न में भी किसी अतिशय सुन्दरी कन्या को देखते हैं तो उसका स्मरण कर उधर आकृष्ट हो जाते हैं। वे एक कुशल चित्रकार भी हैं तथा स्वप्न में देखी गयी सुन्दरी का वास्तविक चित्र बनाकर उत्तम कला की उपासना को अभिव्यक्त करते हैं। उनका स्वभाव कोमल तथा विनम्र है, अतः जब वे महारानी की सेविका को उद्यान में आकर किमी प्रेम-प्रसंग को सुन लेने पर भी आशंकित होकर उस पर कुद्र नहीं होते हैं तथा साथ ही महारानी को भी अप्रसन्न करने की उनकी भावना नहीं रहती। वे कलामर्मज्ज भी हैं, अतः जब विदूषक से वसन्ततिलका दासी द्वारा प्रसग पूछने पर उसके द्वारा ठीक प्रसंग के बतला देने पर वे उसके बुद्धिचानुर्य पर आश्र्यचकित होकर उमकी प्रशंसा भी करते हैं। शृङ्खारी तथा विलास-प्रिय होने के कारण वे प्रायः विहार की भावना से सदा ही प्रमदोद्यान तथा कुञ्जों में दिखलाई देते हैं। वे एक शृङ्खारी नायक भी हैं तथा स्नप्न में देखी गयी किसी विलक्षण सुन्दरी पर मुग्ध होकर विरहवेदना का अनुभव करते हुए दुःखो रहते हैं। वे सहृदय तथा कर्तव्यनिष्ठ स्वामी भी हैं तथा समय-समय पर महारानी के सौन्दर्य तथा निष्ठा की प्रशंसा भी करते हैं तथा उसके प्रति आदरभाव भी रखते हैं। जब शृङ्खारमञ्जरी को महारानी स्वीकारने के लिए उन्हें स्वयं निवेदन करती है तो वे उसे सादर स्वीकार करते हैं और महारानी के द्वारा गान्धर्व विवाह करने की बात का अक्षरशः निवाह भी करते हैं। अतः स्पष्ट है कि वे एक गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति हैं। पूज्यजन के प्रति उनकी अतिशय सम्मान की भावना हृदय में रहती है, अतः जब वे शृङ्खारमञ्जरी की प्राप्ति में अपने सचिव का उद्योग देखते हैं तो उसके प्रति भी अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। वे प्रकृति-प्रेमी भी हैं तथा चैत्र की उपवन शोभा को देखकर वे प्रकृति के वर्णन को बड़ी तन्मयता से करते हुए

उसके सीन्दर्य पर मुख्य हो जाते हैं तथा वृक्षों, लताओं तथा उपवन की प्राकृतिक शोभा से अनुराग रख सदा प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

महारानी रूपरेखा—(ज्येष्ठा नायिका) महारानी रूपरेखा प्रधान या पट्ट-महिला है। वे अभिजातवंशीया तथा मानिनो स्वभाव की होने से मध्या-नायिका के सभी लक्षणों से मणित हैं। वे हृदय से कोमल तथा व्यवहारविदा हैं। अतः सदा महाराज से मिलने पर उनसे प्रीतिपूर्ण चचनावली में आलाप करती हैं। वे अपने प्रकृतिप्रेम के कारण महाराज को ही तरह वसन्तऋतु की शोभा को देखकर उसका वर्णन करने लगती हैं। वे गम्भीर प्रकृति की है तथा नीतिज्ञ भी, अतएव जब उन्हें महाराज के साथ शृङ्गारमञ्जरी की प्रणयक्रीडा की गुप्त बातें जात होती हैं तो वे चतुराई के साथ दोनों के मिलन को रोकने की इच्छा से बाधा उपस्थित कर देती हैं। इस कार्य में वे दसन्त-तिलका दासी तथा विदूषक का आपस में मिलना भी बन्द करवा देती हैं तथा सभी को कारागृह में बन्दी भी बनवा डालती हैं। ये धार्मिक कार्य में श्रद्धाशीला हैं तथा अपने ही उद्यान में भगवती गीरी की मन्दिर में अर्चना कर एक दिव्य गम्भीर वाणी में जब चेतावनी सुनती हैं तो शीघ्र उस पर विचार कर निरपराध नायिका शृङ्गारमञ्जरी के साथ ही विदूषक तथा वसन्ततिलका को भी कारागृह से मुक्त करवा देती हैं जिससे शृङ्गारमञ्जरी आदि का बन्दीगृह से उद्धार हो जाता है।

यह कर्तव्यपरायणा भी है तथा अपने स्वामी के सुख की अपेक्षा से स्वयं शृङ्गारमञ्जरी को विभूषित कर महाराज को प्रस्तुत करने में भी नहीं सकुचाती। इसका स्वभाव मृदुभाषण करने का है तथा जब इन्हें अन्त में यह विदित होता है कि शृङ्गारमञ्जरी तो उनके जीजा अवन्तिराज की कन्या है तो वह अपने कठोर-व्यवहार से स्वयं दुःखी होकर वहीं क्षमायाचना करती है, जिससे उसकी सहृदयता की अभिव्यक्ति होती है। जब यह भी जात होता है कि कन्या के भाग्य से ही उसका पति चक्रवर्ती होगा तो वह और अधिक प्रसन्न हो उठती है।

शृङ्गारमञ्जरी—(नायिका)—यह सट्टक की अतिशय रूपवती नायिका है जो अपने लावण्य से महाराज को आकृष्ट कर लेती है। यह अतिकोमलांगी

एवं चञ्चलनेत्रों वाली भी है जो महाराज को स्मरण कर उनसे प्रेम करने लगती है। जब वह एक बार रसविषयक एक विवाद-गोष्ठी में महारानी के द्वारा बुलवायी जाती है तभी उसे प्रथम बार महाराज राजशेखर को देर तक तथा समीप से देखने का अवसर मिलता है तथा इसी के बाद वह उन पर अतिशय आसक्त हो उठती है।

यह शास्त्र तथा कलाओं में दक्ष तथा अतिशय बुद्धिमती भी है। इसी कारण जब विटूपक तथा वसन्ततिलका दासी के मध्य अन्तःपुर में रसविषयक विवाद होता है तो यही इनकी मध्यस्थता कर उचित व्यवस्था देती है तथा उसे इस कार्य के लिए स्वयं महारानी ही नियोजित करती है। यह कोमल प्रकृति की भी है, जिसे सांसारिक सुख-दुःखों का अधिक अनुभव नहीं है और न ही उन्हें सहन करने की सामर्थ्य रखती है। यह नायक में अनुरक्त होने पर मिलन के लिए आत्मर हो उठती है। इसका प्रकृति बड़ी लजीली है तथा जब यह अपने प्रिय से मिलने को लताकुञ्ज में पहुँचती है तो राजा को प्रथम ही वहाँ उपस्थित जानकर लज्जा का अनुभव करने लगती है। शास्त्रीय दृष्टि में यह परकीया तथा कन्या नायिका है जो (अपने) नवानुराग के कारण मुग्धात्व को लिये हुए है। इसका चित्रण एक अनिन्द्यमुन्दरी तथा सौभाग्य एवं लक्षणवत्ती कन्या के रूप में इसमें अतिमुन्दर हुआ है तथा इसी के भाग्य से महाराज को चक्रवर्तिपद की प्राप्ति भी होती है।

चारभूति—(अमात्य)—उदारचेता महामति एवं पराक्रमी चारभूति महाराज राजशेखर के महामन्त्री हैं जो राज्य की व्यवस्था का सञ्चालन स्वामिभक्ति से ओत-प्रोत होकर करते हैं। यह नीतिज्ञ एवं तीक्ष्णमतिमान् है, जिसके गूढ़ एवं व्यवस्थित उद्योगों के कारण राजशेखर का शृङ्गारमञ्जरी में अनुराग होकर उचित वातावरण का निर्माण होता है, जिसके परिणामस्वरूप ही चक्रवर्तित्व के दैवीलाभ को प्राप्त करवाने की भाग्यशालिता लिये हुए रहने वाली कन्या शृङ्गार-मञ्जरी से महाराज का विवाह सम्भव हो सका। यद्यपि सचिव का रञ्जनमञ्जव पर चतुर्थ यवन्तिकान्तर में प्रत्यक्ष आगमन होता है किन्तु समग्र घटनाचक्र को पृष्ठ-भूमि में इसी के अवस्थित रहने से तथा इसी के उद्यम के द्वारा सारे प्रयोजन शृङ्गलाबद्धरूप में जुड़े हुए रहते हैं। यह स्वामिभक्त एवं आदर्श मन्त्री है जो चाणक्य या योगन्धरायण की तरह चुपचाप अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करता है।

विद्वयक गौतम—महाराज राजशेखर का यह नर्मसचिव तथा विश्वस्त प्रिय-
सुहृद है जो उनके प्रत्येक प्रसंग में सहचर होकर सहायता करता रहता है।
यह सदा ही अपने स्वामी के मन की बात जानने का प्रयत्न करता रहता है।
तथा महाराज भी इसे अपने हृदय की बात कह कर अपना हृदय हल्का कर
लेते हैं। यह नायक एवं नायिका के मिलन में पूर्णरूप से सहयोग करता है
तथा अपने कौशल से उसमें सफलता प्राप्त करता है। रसविषयक विवाद उत्पन्न
कर यह नायक तथा नायिका के परस्पर मिलन को सम्पन्न करवाता है तथा
प्रेमपत्र के साथ अनेक समाचारों को नायक को अवगत करवाने का कर्तव्य
करता रहता है। यह राजा को विरहवेदना को भी अनेक विवि मनोरञ्जन के
प्रसंगों की उद्भावना कर कम करता है। राजा का यह अभिन्नसुहृद, कामतन्त्र
सचिव तथा हितंपी है। स्वभाव से हँसोड रहने से यह सभी के मनोरंजन में लगा
रहता है। यह भोजनप्रिय भी है जो किसी प्रसंग के आने पर अपने लिए भोजन
की बात अवश्य चलाता है। यह राजा को परामर्श भी देता है तथा महारानी
के प्रति भी आदर भाव रखता है तथा भूमिका के अनुरूप हास्यरस की सृष्टि
करता रहता है।

वसन्ततिलका—(दासी)।—यह विश्वस्तपरिचारिका के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका
में रखी गयी है। यह शृङ्गारमञ्जरी की प्रियसखी है जो शृङ्गारमञ्जरी के
महाराज के प्रति अनुराग-वर्धन से लेकर पारस्परिक मिलन के प्रत्येक अवसर पर
सहायक रहती है। अपनी मृदुप्रकृति के साथ-साथ कार्यसम्पादन में दक्षता रखने
के कारण नायिका की अन्तरंग सचिव तथा संरक्षिका दोनों ही का वह निर्वाह
करती है, इसे महाराज तथा विद्वयक का विश्वास प्राप्त है और यह राजसेवा में
स्वयं को ठीक से नियोजित रख स्वामिभक्ति का उचित निर्वाह करती है।

माधविका—(दासी)।—यह महारानी की विश्वस्त परिचारिका तथा ऐसी
सहचरी है जिसकी केवल महारानी पर अतिशय भक्ति है तथा महारानी भी इसे
अधिक आत्मीय मानती है। इसी कारण यह महारानी की अन्तरञ्ज सचिव श्री
है तथा इसे सदा महारानी की ही इसीलिए चिन्ता बनी रहती है।

शृङ्गारमञ्जरी-समीक्षा—आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय ने राजशेखर की
कर्पूरमञ्जरी को आदर्श के रूप में सम्मुख रखते हुए ही शृङ्गारमञ्जरी की रचना

की थी यह स्पष्टतः प्रतीत होता है परन्तु फिर भी काव्यगुणों के विशिष्ट गुणक एवं कल्पनाशक्ति के अभिनव कौशल से यह सटुक अधिक आकर्षक हो गया है।

जब परम सुन्दरी नायिका शृङ्खारमञ्जरी महाराज राजशेखर को स्वप्न में दिखाई दी तो राजा उसके सौन्दर्य से अभिभूत हो उसे प्राप्त करने के लिए अधीर हो उठता है। इस कन्या के विषय में मतञ्जलिषि की यह भविष्यवाणी थी कि इसका स्वामी चक्रवर्ती सम्राट् होगा। यह महारानी रूपरेखा के बन्तःपुर में महामन्त्री द्वारा पहुँचा दी जाती है तथा दासी वसन्ततिलका तथा विदूपक की सहायता से नायक के साथ मिलन में सहायता मिल जाती है तथा इसी वातावरण में महाराज के प्रति इसकी प्रेमभावना भी उत्तरोत्तर बढ़ती है। महारानी को इस प्रणयवृत्त के ज्ञान होने पर वह नायिका को कठोर नियन्त्रण में रख देती है। इसी समय अदृश्यरूप में मणिमालों पार्वद से दिव्यवाणी द्वारा महारानी को अपने सही (पतिन्नता) धर्म का बोध हो जाता है तो वह अपने स्वामी के हितार्थ नायिका शृङ्खारमञ्जरी को बन्दीगृह से मुक्त करके उसके साथ ही महाराज के विवाह की स्वीकृति ही नहीं देती वरन् स्वयं विवाह भी सम्भवन करवा देती है। इसी समय जब अमात्य भी मतञ्जलिषि की भविष्यवाणी को सुनाते हैं तथा इन्हीं के बुद्धिकौशल एवं साधानोपूर्वक रचे गये कार्यों से न केवल महाराज को शृङ्खारमञ्जरी भार्यारूप में प्राप्त होता है वरन् चक्रवर्तित्व की भी उपलब्धि हो जाती है। ऐसो रचना नाटिका की तरह ही विश्वेश्वर ने अपनी कल्पनाशक्ति से शृङ्खाररस से युक्त तथा अद्भुत घटनाओं से मणिडत कर प्रस्तुत की है।

शृङ्खार रस के प्रवर्तक मदनदेव का सटुक में सर्वत्र प्रभाव दिखलाया गया है तथा इसी कारण नान्दी के साथ ही पुष्पायुध की महत्ता प्रस्तावना में ही कवि ने दर्शायी भी। अतः जब सौन्दर्यमणिडत नायिका के मुखचन्द का नायक ने स्वप्न में अवलोकन किया और उसी के विलक्षण कटाक्षों की जब वर्षा हुई तो राजा विरह-व्याकुल हो जाता है। नायिका के स्पर्शमात्र से नायक को मुख का तथा अभाव में दुःख का अनुभव होता है। इसमें विदूपक तथा वसन्त-

१. दृष्ट०—प्रस्तावना ‘चावं पुष्क’ इत्यादि पद्य २।

तिलका दासी प्रत्यक्ष रूप में रस-विषयक विवाद करते हैं। इन सभी से कवि ने शृङ्खार रस के निरूपण तथा उसके संयोग एवं विप्रलभ्भ पक्ष को भी दक्षता से प्रस्तुत किया है। इनके अतिरिक्त इसमें अद्भुत रस का भी समावेश किया गया है। भगवती गीरो की कृपा से ही शृङ्खारमञ्जरी वी उसके पिता को प्राप्ति होती है तथा गीरो के शाप द्वारा ही मणिमाली राधास द्वारा नायिका का अपहरण भी होता है जिन्हुंने मतञ्जलिष्ठि की प्रभावी क्रुद्ध दृष्टि मात्र से ही वह नीचे गिर कर आधम में उतर आता है तथा अपने शाप से मुक्त भी हो जाता है। अमात्य का भी इसी समय कारणवश वहीं रह कर इसे देखना तथा मतञ्जलिष्ठि द्वारा कन्या के पति को चक्रवर्तित्व प्राप्त होने की भविष्यवाणी से प्रभावित हो कर सचिव द्वारा नायिका को स्वयं अपने साथ आश्रम से लाकर अन्तःपुर में रखना—ये सभी घटनाएँ अद्भुतता को (सटुक) में दिखलाती हैं। जो महारानी प्रथमतः महाराज के शृङ्खारमञ्जरी से मिलने पर ईर्ष्या रखती थी, वही अन्त में इनके विवाह की रवीकृति दे देती है। इस प्रकार के विलक्षण परिवर्तन की तथा प्रथममिलन में ही अतिशय अनुराग हो जाने की घटनाएँ भी रम्य तथा अद्भुत हैं। भगवती गीरो का इस सटुक में अतिशय प्रभाव समायोजित किया गया है जिसका संकेत प्रथमनन्दी पद्म से ही दिया गया है। यद्यपि सटुक के अधिक नमूने सम्प्रति प्राप्य नहीं हैं तथा राजशेखर प्रणीत कर्पूरमञ्जरी ही प्रायः सभी लेखकों का आदर्श रहा है, इसका कारण सभी का प्राकृतभाषा में रचना करना सम्भव नहीं था, अतः असामान्य प्रतिभा-सम्पन्न कवि ही इस ओर अभिमुख हो पाये थे। शृङ्खारमञ्जरी में शृङ्खार रस के स्वरूप पर ऐसी चर्चा रखी गयी है जो हमें रसशास्त्र के विशिष्ट चिन्तन के साथ-साथ रसगङ्गाधर जैसे शास्त्रीय ग्रन्थों का स्मरण भी करवाती है, जहाँ के कुछ प्रमेयों की तुलना इसके विवरण से स्पष्ट समानता के साथ देखी जा सकती है।

भाषा :

श्रीविद्वेश्वर पाण्डेय प्राकृत भाषा के प्रचलन काल से पर्याप्त उत्तरभावी रचनाकार थे। इस समय प्राकृत भाषा का प्रचलन कम हो गया था तथा संस्कृत में रचनाओं को पुनः प्रमुखता हो रही थी तथा इनका संस्कृत भाषा पर अतिशय अधिकार था ही। ऐसा प्रतीत होता है कि शृङ्खारमञ्जरी के गद्य पद्म प्रथम संस्कृत में विचारित

कर पुनः उन्हें प्राकृत में लिखा गया होगा। इनको प्राकृत रचना का आधार संस्कृत रचना के स्तर को स्पर्श करता-सा प्रतीत होता है। इस प्रकार यदि इनकी प्राकृत भाषा की रचना को देखा जाय तो स्पष्ट है कि यह वरश्चि के प्राकृत प्रकाश^१ के अध्ययन पर आधारित होकर रची गयी थी, परन्तु इस पर कालिदास, भवभूति, राजशेखर जैसे नाटककारों की रचना का प्रभाव अवश्य या तथा प्रवरसेन के 'रावण-वहो' जैसे प्राकृत महाकाव्य की भी इनने अध्ययन किया होगा। सटुकों के अनुगमन के अनुसार पात्रों के नाम तथा रंगभूमि के सूचना हेतु अभिनयादि निर्देश संस्कृत भाषा में दिये गये हैं परन्तु शेष सभी संवादादि प्राकृत भाषा में ही रखे गये हैं। इसमें सूक्ष्मता से महाराष्ट्री और शीरसेनी रचनाओं की भिन्नता को कर्पूरमञ्जरी की तरह देखा नहीं जा सकता। इस सटुक में स्त्रियों के गदा-संवाद शीरसेनी प्राकृत में तथा पद्य रचना में महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग हुआ है। यह कार्य लक्षणानुसारी विवरण तथा रचनाओं के अनुगमन के अनुरूप ही किया गया है। समग्र सटुक की प्राकृतभाषा में रचना करना भी सटुक के लक्षण के अक्षरशः पालन के लिए हुआ है। इस प्रकार काल्पनिक कथावस्तु से मणिडत एवं शृङ्खार और अद्भुतरसों से समन्वित, गीत एवं नृत्यादि से युक्त तथा स्त्रीपात्र-बहुल इस सटुक की नाट्यतन्त्र की दृष्टि से स्थिति महत्वपूर्ण बनायी है। इसके आलङ्कारिक रचनांशों में गम्भीरता तथा परिपक्वता के दर्शन होते हैं तथा पद्य अपनी अतिशय काव्यमयता के कारण इस क्षेत्र में महत्वशाली हो गये हैं।

कर्पूरमञ्जरी एवं श्रुंगारमञ्जरी

श्रुंगारमञ्जरी को देखने पर यही प्रतीत होता है कि यद्यपि विश्वेश्वर पाण्डेय ने इसकी रचना कर्पूरमञ्जरी के ही आदर्श पर की है फिर भी घटनाक्रम को बड़े ही कौशल से उपस्थित एवं पल्लवित किया गया है। इसमें कर्पूरमञ्जरी से दृश्य साम्य भी है। यथा—विदूषक तथा महाराज का नायिका के सौन्दर्य तथा प्रकृति का वर्णन करना, विदूषक और दासी का विवाद, विरह में नायिका तथा नायक की व्याकुल स्थिति आदि। कर्पूरमञ्जरी में जहाँ नायिका को नायक झूलते हुए

देखता है तथा उस पर आकर्षित होने लगता है तो शृंगारमंजरी में भी नायक उसे एक रसगोष्ठी में देखकर उस पर आकृष्ट हो जाता है। उद्यान में राजा तथा महारानी का मिलना तथा भगवान् कामदेव का पूजन इत्यादि दोनों में समान रूप में दृष्टिगत होते हैं।

इसके अतिरिक्त दोनों सटुकों में विचारसाम्य भी है। यथा— कवि का परिचय, सटुक के स्वरूप को दर्शना (आदि), नायक द्वारा उद्यान की शोभा का वर्णन, नायक को चक्रवर्ति पद की प्राप्ति होना, कनिष्ठा नायिका के नाम पर सटुक का नामकरण रहना आदि। इसके साथ दोनों में कुछ स्थितियाँ भी साम्य लिये हुए हैं। जैसे—नायिका का दिव्य लक्षणादि सम्बन्ध रहना, दोनों का अपहरण हो जाना, नायिका को देखते ही उस पर नायक का आकृष्ट हो जाना, ज्येष्ठा नायिका का आरम्भ में ईर्ष्यविश प्रतिकूल आचार तथा अन्त में इसी के द्वारा नायिका का विवाह सम्बन्ध करवाना—सभी समान हैं। दोनों में इन समानताओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी बातें हैं जो कि भिन्नता भी लिये हुए हैं। जैसे—कपूरमंजरी में चेष्टी तथा विदूपक के द्वारा परस्पर अपशब्द के प्रयोग होना, किन्तु शृंगारमंजरी में ऐसी योजना ही नहीं की गयी है। इसमें रसविषय पर वसन्ततिलका तथा विदूपक का वाद-विवाद होता है तथा नायिका को भी इस विषय में पारंगत दिखलाया गया है। कपूरमंजरी में जहाँ आडम्बर अधिक है, वहाँ शृंगारमंजरी में बुद्धिचातुर्य तथा विलक्षणता के दर्शन होते हैं। कपूरमंजरी में भैरवानन्द कौलिक साधक है, किन्तु शृंगारमंजरी में भगवती गोरी के शापवश उन्हीं के पार्षद द्वारा अपहृत नायिका मतंगऋषि के आशीर्वचन से न बेवल मुक्ति अपितु अभ्युदय की भी उपलब्धि करती है। कपूरमंजरी के झूले तथा दोहद सम्पादन के कार्य के स्थान पर इसमें रसविषयक गोष्ठी रखी गयी है तथा नायिका को रसशास्त्र में निष्णात एवं अधिकारी बतलाकर विदूपक तथा वसन्ततिलका के विवाद में मध्यस्थता सम्पादन दिखलाकर चित्रित किया गया है।

कपूरमंजरी के करकरी नृत्य के स्थान पर यहाँ भगवती गोरी के आगे सामूहिक नृत्य की योजना रखी गयी है। शृङ्गारमंजरी में हलके विनोद के स्थान पर गम्भीर सम्भाषणों को रखा गया है तथा इसके आलङ्कारिक वर्णनात्मक

गद्यांशों में सर्वत्र गम्भोरता का स्पष्टः बातावरण दिखाई देता है। इसमें कर्पूर-मंजरी की तरह नायिका सद्यःस्नाता के रूप में प्रस्तुत नहीं है, बरन् उसको स्वप्न में नायक देखता है तथा इसके बाद ही उसे अन्तःपुर में अवस्थित दिखलाया गया है। इस प्रकार शृङ्गारमंजरी के रचयिता ने अपनी अभिनवपद्धति तथा विलक्षणता दिखलाकर इस क्षेत्र में महस्त्वपूर्ण स्थान निर्मित किया है। जैसे— स्वप्न में राजा का नायिका को देखना, दिव्यवाणी के थ्रेण द्वारा महारानी का हृदय परिवर्तन होना, भगवती गौरी के आशीर्वाद से नायिका का जन्म लेना, मणिमाली पापंद द्वारा शापवश उसी का अपहरण करना, नायिका का रसविवाद में दक्षता के साथ मध्यस्थिता करना, मतञ्जलीष्वरी के आशीर्वाद तथा भविष्यवाणी के अनुरूप महाराज का सुलक्षणा नायिका से परिणय तथा चकवर्तित्व की प्राप्ति होना। कर्पूरमंजरी में नायिका स्वयं ही आरम्भ में अपना परिचय महारानी को भैरवानन्द के ही समक्ष बतला देती है तथा नायिका के परिचयादि को गोपनीय रखने में राजशेखर ने जहाँ असमर्थता दिखलायी तथा बाद में कर्पूरमंजरी को एक काल्पनिक नाम घनसारमंजरी रखकर प्रस्तुत किया, वहीं विश्वेश्वर पाण्डेय ने अन्त तक शृङ्गारमंजरी का परिचय न होने देकर अपनी दक्षता का भी परिचय दिया है तथा अन्त में ही महारानी को यह विदित हो पाता है कि नायिका शृङ्गारमंजरी उसके बहनोई की ही पुत्री है।

सटूक का रूप तथा प्रयोग

यह हम पूर्व में दिखला आये हैं कि सटूकों का मूल आधार नाटिका है जिसका स्वरूप विभिन्न आचार्यों ने निर्दिशित किया था। नाटक में कार्य की पांच अवस्थाओं के रहने से प्रत्येक को यदि एक अङ्क में रखा जाय तो नाटक के लिए न्यूनतम पांच अङ्कों की आवश्यकता रहेगी हो, परन्तु नाटिका में चार अङ्कों की मर्यादा रहने के कारण इसमें किसी एक कार्य को कम करना इष्ट होता है। इसी प्रकार इसमें स्त्री पात्रों की बहुलता से ललित अभिनय एवं शृङ्गाररस के प्रयोग को सहारा मिलता है तथा नायक भी धीरललित इसी कारण यहाँ होता है। शृङ्गार के सहकारी होकर गीत नृत्य तथा बाद यहाँ प्रस्तुत होते हैं। कथावस्तु भी मिश्र रखी जाती है तथा महादेवी और कन्या दोनों एक साथ नायिकाएँ रहती हैं। इसका 'नाटिका' शब्द ही नाटक के संक्षिप्त या लघुकृत स्वरूप को दर्शाता

है तथा सौकुमार्य एवं स्त्री पात्रों की वहुलता को नायिका के नाम से होनेवाले नामकरण से संकेतित किया जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाटिका का परम्परा-प्राप्त शास्त्रीय लक्षण ही सटूक के स्वरूप का आधार है। सटूक का लक्षण भी नाटिका के आदर्श को ऐकर कुछ संशोधित रूप में आचार्यों ने इसी कारण रखा भी है परन्तु इन परिवर्तनों के आयाम थोड़े से प्रदेश में ही अवस्थित हो सके। इसका 'सटूक' शब्द भी संगोत-परकस्थिति तथा नर्तनगत प्रमुखता को ही दिखलाता है तथा नर्तन के आधिक्य के कारण ही इसमें कथावस्तु की अल्पता रहती है। इसी कारण कथावस्तु के अज्ञभूत प्रवेशक तथा विष्कम्भक की इसमें योजना नहीं रहती, केवल नाटिका के समान दृश्यों में कथावस्तु का विभाजन रहता है। इसी विभाजन को दृश्य में रखने की आवश्यकतावश इसमें केवल एक पद्धे को ही रख कर काम चलाया जाता था तथा इसी कारण 'अङ्क' के स्थान पर यवनिकान्तर रखा गया था जो समय तथा साधन—दोनों की ओर संकेत करता है तथा इसका गठन भी केवल चार यवनिकान्तर में ही किया जाता है।

परन्तु सटूक का अतिरिक्त सशक्त पक्ष या विशिष्ट स्वरूप है इसका प्राकृत भाषा में रहना। अन्य आचार्य^१ इसका एक भाषा में निबढ़ रहना लक्षण बतलाते हैं। उनके मत में समग्र सटूक किसी एक ही भाषा में प्रथित रहना चाहिए। यद्यपि ऐसा रहने पर प्राकृत भाषा के साथ संस्कृत भाषा में भी सटूक लिखने की बात हो सकती है किन्तु सभी सटूक पृष्ठतः संस्कृत में कभी नहीं लिखे गये अथवा यदि लिखे भी गये हों तो वे सम्प्रति प्राप्त नहीं होते। इसके अतिरिक्त जो सम्प्रति प्राप्त हैं वे सभी प्राकृत भाषा में ही हैं, यद्यपि कहीं-कहीं बीच में वहाँ संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ भी है तो वह अत्यल्प मात्रा में है। यहाँ नाटिका से विभेदक तत्त्व भी यही प्राकृत भाषा का प्रयोग है क्योंकि सामान्यतः प्राकृत भाषा उस समय लोकजन-संवेद्यता लिये हुए थीं तथा इसी कारण प्राकृत भाषा सभी प्रकार के दर्शकों को मनोरंजन देने की असामान्य

१. द्रष्टव्य—सटूक स्वरूप नाट्य दर्पण सूत्र में—“अप्राकृत संस्कृतया सः सटूको नाटिका-प्रतिमः” इति।

सामर्थ्य रखती थी। प्राकृत भाषा की इसी प्रवृत्ति को मुख्य रूप से दृष्टि में रखकर ही राजशेखर ने कर्पूरमंजरी की प्रस्तावना में उसे कहा था। एक भाषा को प्रयोग में लाने की प्रवृत्ति के दर्शन सर्वप्रथम सटूक में ही होते हैं, जो आगे चलकर साहित्य में बड़ी मात्रा में प्रचलित हुआ तथा प्रयुक्त भी।

इस क्रम में सटूकों में आरम्भ किये गये अन्य तथ्य भी आते हैं जिसमें नायक का राजा के धीरलित रूप में प्रस्तुतीकरण है जहाँ वह शृङ्खारी प्रवृत्ति में रहकर अभ्युदय की प्राप्ति भी करता है। यह एक सुलक्षणा एवं भाष्यशाली कन्या ही से आरम्भ में अनुराग करता है केवल उसके रूप-लावण्य एवं कलागत वैशिष्ट्य से आकृष्ट होकर ही, परन्तु अन्त में उसी कन्या के भावों सौभाग्य के कारण चक्रवर्ति पद की विशिष्ट उपलब्धि भी उसे होती है। नाटिका की यह रूढ़ि प्रवृत्ति सटूक में तथैत्र रही तथा इसमें भी कनिष्ठा कन्या नायिका के नाम पर ही सटूक का नामकरण रखे जाने का अनुसरण भी हुआ जो प्राप्ति सभी सटूकों में समान रूप में दिखलाई पड़ता है।

सटूकों की ऐसी रूढ़िवादिता ने आरम्भ में प्रजा का पर्याप्त मनोरंजन किया था तथा ऐसे नाट्य-प्रयोग पर्याप्त मनोयोग से मंच पर प्रस्तुत भी किये जाते थे। यह राजशेखर का समय था जब कि प्राकृत का एक लोक-भाषा के रूप में प्रचलन तथा आदर था, अतः प्रयोक्ताओं को भी लोकहचि से प्रेरित होकर ऐसे प्रयोगों के लिए तैयार रहना पड़ता था। इसी कारण कविगण को अपनी विशिष्ट कल्पना समन्वित कृतियों के प्रस्तुत करने का पर्याप्त अवसर उपलब्ध रहा था तथा इसी कारण उपरूपकों के नाटिका के प्रभेद के बाद कविगण सटूकों के प्रणयन में प्रवृत्त होते थे तथा इसे वे अपनी प्रतिभा तथा भाषा-योग्यता प्रदर्शित करने का आशार बनाते थे।

साहित्यिक उपलब्धियाँ

जैसा कि उपर्युक्त विवरण में दिखलाया गया है कि सटूक की सर्वाधिक महत्त्व की उपलब्धि है नाट्य प्रयोग के स्थान पर नृत्य प्रयोग को बढ़ावा देना। यही नृत्यात्मकता प्रायः सभी उपरूपकों की केन्द्रीय विशेषता भी है जिनका सभी में न्यूनाधिक रूप में समायोजित करने का अवसर रखा जाता था तथा जो इनके

आकर्षण का आधार था । इसी कारण नाट्यप्रयोक्ताजन भी समर्थ कवियों से नवीन सटुकों की मांग करते रहे हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होगा ।

इसकी एक अन्य उपलब्धि है इसकी कथावस्तु का शृङ्खारमय रहना भी; अतः यहाँ नायक के प्रसिद्ध रहने की स्थिति इतनी महत्वपूर्ण नहीं, जितनी प्रणयव्यापार प्रदर्शित करना । इसी कारण कन्या नादिका के सौन्दर्य तथा अन्य कलात्मक उपलब्धियों को भी इसमें प्रस्तुत किया जाता रहा तथा उसकी अतिकोमल प्रवृत्तियों को भी दर्शाया जा सका । वह सदा एक सुलक्षणा एवं सौभाग्यशालिनी तो रही हो परन्तु उसकी ही प्राप्ति में नायक का चरम अभ्युदय भी आधृत रहा और यही उसकी स्थिति को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बनाते हुए इसमें मुख्यता भी प्रदान करता है ।

सटुकों की भाषा तथा उसका क्रमिक परिष्कार

सटुक की महत्वपूर्ण स्थिति का दूसरा मुख्य कारण है इसकी प्राकृत भाषा भी; क्योंकि आचार्यों ने एक भाषा में नाट्यप्रयोग प्रस्तुत करने की अपेक्षा को ध्यान में रख कर ही सटुक का लक्षण बनाया था । इससे एक लाभ यह हुआ कि दर्शकों को अधिक भाषाओं में सम्भायण सुनने का कष्ट नहीं उठाना पड़ा तथा इस करण वे रसग्रहण को सहजरूप में प्राप्त करने में प्रवृत्त होने लगे । भाषा के इसी सशक्त आकर्षण ने एक बार में ही सटुकों को लोकप्रियता की पंक्ति में लाभिठाया और वे जन समादृत होकर महत्वशाली बन गये । भाषा के इस प्रयोग ने प्राकृत-भाषा को भी विस्तीर्ण आयाम प्रदान किया जो आगे चलकर उसके विकास में भी कारण बन कर रहा ।

वर्पुरमञ्जरी के अनुशीलन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राजशेखर के समय प्रजाजन प्राकृत की कोमल प्रकृति से अभिज्ञ थे तथा आकृष्ट भी, जिसे उसने अपने एक उद्गार में संकेतित किया भी है । कर्पुरमञ्जरी की प्राकृत भाषा गद्य तथा पद्य में भिन्नता लिये हुए थी तथा इसकी संवादों की भाषा शौरसेनी प्राकृत थी । यह वही शौरसेनी है जो नाटकादि में स्त्रीप्रात्रादि के लिए प्रयुक्त की जाती थी । यद्यपि इस भाषा का क्षेत्र शूरसेनजनपद था किन्तु नाट्यरचना की प्रयोगगत स्थिति ने इसे अधिक व्यापकता दे दी थी । सटुक में पद्यों की भाषा महाराष्ट्री

प्राकृत को रखा गया था, जिसका कारण या इसका भारत में अनेक शताब्दियों से काव्य भाषा के रूप में प्रचलित रहना तथा। अपने स्थिर रूप को रखना। इसके विपरीत संवादों की भाषा को साधारणतः चुस्त तथा अभिनव आभाषणों से युक्त रखना आवश्यक था, इसी कारण उसे प्रचलित लोकभाषाओं के परिवर्तित रूपों के समोप रखा गया। नाट्य के क्षेत्र में इसे एक परीक्षण ही कहा जा सकता है जो अपनी मौलिकता के अतिरिक्त अभिनवता भी लिये हुए था। कवि ने दर्शकों के सुविधार्थ बोध को सहजता को ध्यान में रख कर प्राकृत भाषा में सटूकों की, रचना की क्योंकि इस समय प्राकृत भाषा को समझना सभी वर्ग के दर्शकों के लिए सरल था। यह बात राजशेखर के काल में शतप्रतिशत उपयुक्तता को लिये हुए रही यह सत्य है। परन्तु सटूकों की विकासयात्रा के अगले पड़ाव से ही भाषा की इस स्थिति में भिन्नता आ गयी तथा राजशेखर के उत्तरभावी लेखक नयचन्द्र ने रम्भामञ्चरी में प्राकृत भाषा के रूप को अधिक लक्षणानुसारी रखने में कम रुचि दिखलायी। कई स्थानों पर अपने संस्कृत भाषा के प्रति अतिशय झुकाव से आकृष्ट होकर उसने बोच-बीच में संस्कृतभाषा का भी प्रयोग किया। इस समय प्राकृतभाषा लोक-भाषा के स्थान से हटने लग गयी थी तथा उसका भी व्यवहार व्याकरण के अनुगमन के बिना कठिन बनता चला जा रहा था।

सटूकों के इस क्रम में रुद्रदास प्रणीत चन्द्रलेखा की प्राकृत भाषा पर भी विचार आवश्यक है। चन्द्रलेखा की प्राकृत में अपनी समसामयिक भाषाओं का प्रभाव उतना नहीं दिखता जो राजशेखर या नयचन्द्र के समय में था। इनकी प्राकृत भाषा को देखने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे प्राकृत भाषा को तो व्यवस्थित रखने का प्रयत्न करते ही हैं, साथ ही हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण का अनुशीलन कर लेने से अर्धमागधी के स्वरूप से भी काफी परिचित हैं। इसके अतिरिक्त तत्कालीन प्रचलित भाषाओं का भी उनकी कृति पर प्रभाव दृष्टिगत होता है तथा गतिशील प्राकृत के प्रयोग भी मिलते हैं। इनका सफलता-पूर्वक प्राकृत भाषा में लेखन संस्कृत भाषा के अध्ययन के साथ-साथ प्राकृत भाषा के गम्भीर परिशीलन पर आधूत था, यह भी स्पष्ट हो जाता है।

इसी धारा में आगे चल कर प्राकृत रचनाओं में शृङ्गारमञ्जरी का स्थान आ जाता है। आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय अपने युग के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकार थे जिनने साहित्य की अनेक विधियों पर अपनी लेखनी चलायी थी। इनकी प्राकृत भाषा सर्वत्र व्याकरणानुगत परिशुद्ध भाषा है जो वरहचि के 'प्राकृत-प्रकाश' तथा अन्य प्राकृत वैयाकरणों के सिद्धान्त का परिशीलन करते हुए लिखी गयी। इस प्रकार सटुक का एक आदर्श भाषामय स्वरूप जो नाट्यतन्त्र को दृष्टि से चाहे पाठ्यरूपक बन गया हो परन्तु उत्तम सटुक के स्तर को बराबर बनाये रहा। यह समय प्राकृत भाषाओं का लोकभाषा के रूप में होने वाले प्रयोगों की समाप्ति का युग था।

इस क्रम में अन्तिम स्थान है घनश्याम कवि की आनन्दसुन्दरी सटुक का। इसके रचयिता सर्वज्ञ कविकण्ठीरव जैसी उपाधि मणिडत कवि घनश्याम है। इनका व्यक्तित्व भी बहुमुखी रहा तथा ये अपने सर्वभाषाकवित्व की पूर्ति के उद्देश्य से मानों अनेक भाषाओं में अपनी रचनादक्षता को प्रस्तुत करने के अभिलाषुक प्रतीत होते हैं। इनके मत में एक श्रेष्ठ लेखक को प्राकृतभाषा में अपनी रचना करने में मंकोच नहीं रखना चाहिए, क्योंकि जो एक ही भाषा में रचना करने में प्रवृत्त रहते हैं वे अपर्ण कवि हैं। पूर्ण कवि को सामर्थ्य ही इसमें थांकी जानी चाहिए कि वह अनेक भाषाओं की रचना करने में सक्षम है।

कवि घनश्याम ने अपने उपर्युक्त कथन का निर्वाह आनन्द-सुन्दरी में पूर्णरूप से किया। इनके यमय प्राकृत लोकभाषा न होकर एक अप्रचलित एवं अध्येय भाषा का स्थान ले चुकी थी। ऐसी स्थिति में व्याकरण के अनुकूल रचना करते हुए प्राकृतभाषा को शास्त्रीयरूप में सुरक्षित एवं जीवित रखने का अश्रान्त उद्दोग घनश्याम ने किया। यद्यपि इनकी भाषा में वरहचि के 'प्रकृत-प्रकाश' का अनुगमन पदे पदे है फिर भी भाषा का स्वच्छन्द प्रवाह भी मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राकृतभाषा की महत्त्वपूर्ण स्थिति के निर्माण में सटुकों का दड़ा योगदान रहा था तथा इससे प्राकृतभाषा का अनुशीलन गतिमान् रह सका।

सटुकों की लोकप्रियता के कारण

यह हम पूर्व में बतला आये हैं कि उपरूपकों का आधार नृ-न्यात्मक प्रस्तुती-करण है। इससे प्रभावित उपरूपक अपने अभिनव रूपों में दर्शकों का मनोरंजन

करते थे तथा नाट्याचार्य इसमें प्रवृत्त हो रहे थे। इस प्रवृत्ति को भी अपने अस्तित्व को स्थिर या प्रतिष्ठित करने के लिए एक लम्बे कालखण्ड को पार करना पड़ा तथा इसी कारण इसके प्रयोगतृजन ने भी अपने प्रयोग तथा अनुभवों को लेकर अनेक परिवर्तन, परिवर्द्धन करने में बुद्धि तथा श्रम को लगाया था। वस्तुतः नाटिकादि की लोकप्रियता का आधार ही इनमें रहने वाले कम पात्रों छोटी-सी कथावस्तु तथा शृङ्खार चेष्टादि से पूर्ण कार्य एवं व्यापार हैं, जो सभी श्रेणी के दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल होते थे। इसमें केवल एक ही पर्दे की मंच पर योजना रखने के साथ साथ-अधिक दृश्यों के रखने या विभिन्न दृश्यों को प्रस्तुत करने की समस्या नहीं रहती थी। इसी कारण नाटिकों का प्रणयन साहित्य में अधिकाधिक होता रहा था, जिसको हर्ष-प्रणीत रत्नावली नाटिका आदर्श रही तथा इसने साहित्य के क्षेत्र में इन्हीं कारणों से अपना महत्वपूर्ण स्थान निर्मित किया भी।

अतएव इन्हीं कारणों से सटूक ने भी अपना ढाँचा नाटिका की आधार-भूमि के प्रकाश में खड़ा किया तथा उसने नाटिका की वह सभी प्राणप्रद सामग्री अपने में समाविष्ट की जिसे तात्कालिक दर्शक-मण्डली प्रसन्न करती थी। शृङ्खाररस के आकर्पक प्रयोग के साथ-साथ उज्ज्वल वेषात्मक कौशिकीवृत्ति का दर्शकों पर स्थायी प्रभाव जमने लगा था और इसके साथ यथावसर वीच-बोच में संगीत तथा नृत्य के अवसर भी जोड़ दिये जाते थे, जिससे एक प्रणयक्या का रंजक वातावरण बन जाता था। इसमें कथा का कोई लम्बा विस्तार नहीं होता था, केवल मानवीय-भावना तथा संघर्षों वा प्रस्तुतोंकरण रहता था जो लम्बे वर्णनप्रधान पाठ्यरूपकों की अपेक्षा सहज था। इसी कारण विदर्घजन से लेकर सामान्यजन तक इसमें मनोरंजन प्राप्त कर लेते थे। अतएव जब राजशेष्वर द्वारा कर्पूरमञ्जरी का प्रणयन हुआ तो इसे एक अभिनव प्राप्ति के रूप में साहित्य में साभिनन्दन ग्रहण किया गया था।

परन्तु कर्पूरमञ्जरी के उपरान्त तो यह एक सामान्य धारा बनकर प्रवाहित हुई तथा इसकी लोकप्रियता के दिनों-दिन बढ़ने के कारण सटूकों का लेखनक्रम भी बढ़ता गया। यद्यपि हमें राजशेष्वर के बाद तीन चार शतकों में रचित अनेक-

सटुक आज नहीं मिल रहे हैं, किन्तु इसका कारण यही है कि वे सुरक्षित न रहने से आज नहीं मिल रहे हैं परन्तु उनकी रचना अवश्य ही होगी यह स्पष्टतः कहा जा सकता है। यद्यपि आरम्भ में सटुक अपने साहित्यिकलक्षणों एवं भाषा के एकात्मकस्वरूप के विशिष्टरूप को लेकर ही प्रवृत्त हुआ था किन्तु आगे चलकर इसके शास्त्रोयस्वरूप ने एक स्थिर रूढिवाद का रूप ले लिया। उत्तरवर्ती रचनाकार तो थोड़ी कथा एवं वातावरण में कल्पना का मिश्रण करने में ही सधम रह पाये तथा उनने इसके मूल रूप में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। यह कम प्रायः बाद के सटुकों में देखा जा सकता है।

रचनागत विशेषताएँ

सटुक की लोकप्रियता का एक अन्य कारण इसकी प्राकृतभाषा में रचना भी है। प्राकृतभाषा का सभी रूपकों में स्त्रीपात्रों तथा अन्य सामान्यश्रेणी के पात्रों द्वारा प्रयोग किया जाता रहा था तथा यह केवल उनको स्वाभाविकता प्रदान करने के उद्देश्य से रखा गया था। परन्तु इतना रहने पर भी मुख्य पात्र नायक तथा उत्तम पात्रों की भाषा सस्कृत ही रखी जाती थी। इस प्रकार संवादों को रखने का दूसरा कारण यही था कि सभी श्रेणी के दर्शकों को अपनी अपनी रुचि के अनुरूप बोध्य भाषा तथा भावों की पूर्ति हो जाय। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में पात्रों के स्वभाव तथा कार्य के अनुसार ही उनकी भाषा रखने का नियम भी इसी अपेक्षा से दिया था। आगे चलकर इसी नियम के अनुरूप नाटककारों ने रचनाएँ लिखीं भी। इस समय तक प्राकृतभाषा अपना महत्त्व एवं लोकप्रियता अजित कर चुकी थी, अतः दृश्यकाव्य में इसका आना स्वाभाविक ही था। यही कारण था कि जब राजशेखर ने सम्पूर्ण प्राकृतभाषा में कर्पूरमञ्जरी का प्रणयन किया तो सभी ओर से इसका अभिनन्दन किया गया। यह जनरुचि का प्राकृतभाषा में अनुराग का भी एक परिणाम था यह भी स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त लोक-प्रचलन के कारण भी प्राकृत भाषा में आभाणक, मुहावरे तथा नवीन शब्दों के प्रतिदिन समावेश होने के कारण उसके विकसित अभिनव रूप का भी परिणाम था। इसके अतिरिक्त भाषा की इसी विकासशील प्रकृति ने भी साहित्यकारों को इसमें रचना करने के लिए प्रेरित किया था, अतः परिणामस्वरूप

सट्टकों के देखने में दर्शकों का उत्साह बढ़ रहा था । इसी लोकप्रिय वातावरण में सट्टकों ने जब अपना अभिनव स्वरूप ग्रहण किया तो चारों ओर की माँग तथा रुचि ने उसे साहित्य में स्थान भी प्राप्त करवाया ।

क्रमागत लोकप्रियता की न्यूनता या ह्रास

यह बात सही थी कि क्रमागत स्थिति ने प्राकृतभाषा के साहित्य की वृद्धि में अपना सहकार दिया किन्तु भाषा की यह स्थिति परिवर्तनशील रही । इसी कारण जब धीरे-धीरे प्राकृतभाषाओं के अनेक प्रादेशिक विभेद होने लगे तो इसके स्वरूप को भी संस्कृतभाषा की तरह एक व्यवस्थित व्याकरण से परिवृद्ध तथा स्थिर करने की आवश्यकता उपस्थित हो गयी । इसी कारण वररुचि ने प्राकृत भाषा का व्याकरण 'प्राकृत-प्रकाश' निर्माण किया । यह संस्कृत भाषा के पाणिनि व्याकरण के आदर्श पर सूत्रात्मक शैली में लिखा गया व्याकरण था । यह व्याकरण तो संस्कृत भाषा में था ही, इसकी वृत्ति तथा व्याख्यान भी संस्कृत में ही था या तथा उदाहरण में प्राकृत शब्द रखे गये थे जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत के वर्णपरिवर्तन के नियम दिखलाकर स्थिर किये गये थे । इस व्याकरण के कारण शौरसेनी प्राकृत के अध्ययन को बल मिला तथा महाराष्ट्री प्राकृत तथा प्राकृतभाषाओं के विभेदों के अध्येताओं को बोध हुआ । इस व्याकरण का एक अच्छा परिणाम यह हुआ कि संस्कृतभाषा की तरह ही व्याकरण के अनुसार प्राकृत भाषाओं का अध्ययन करना सरल हो गया । इसी कारण संस्कृत व्याकरण के विद्वान् भी एक अन्य व्याकरण के अध्ययन में प्राकृतप्रकाश का अवश्य अध्ययन करते थे । इस प्रकार एक विशिष्ट पाण्डित्य को प्राप्त करते थे तथा लोक, समाज एवं राज्य शासनों में इसी कारण उन्हें सम्मान मिल जाता था । परिणाम-स्वरूप एक ऐसी प्रवृत्ति ने जन्म लिया कि जो व्यक्ति अनेकभाषाओं में रचना करे, वही अधिक सम्मान्य है राजशेखर ने इसी बात को दिखलाते हुए बतलाया कि जो अनेक भाषाओं पर अधिकार रख कर रचना करे वह 'कविराज' है । इनने स्वयं भी इस उपाधि को अनेक भाषाओं में रचना लिख कर सार्थक भी किया । इसी कारण आगे चलकर संस्कृत भाषा के साथ-साथ प्राकृतभाषा में लिखने की प्रवृत्ति ने बल पकड़ा । फलतः प्रायः सभी सट्टकार संस्कृत भाषा के रचनाकार भी रहे । नयनन्द्र ने जहाँ प्राकृत

रमामङ्गरी सटुक लिखा तो संस्कृत में 'हम्मोरमहाकाव्य' भी लिखा। इसी प्रकार विविध शास्त्रपाण्डित्य-मण्डित आचार्य विद्वेश्वर पाण्डेय ने संस्कृत में अनेक रचनाएँ कीं तथा शृङ्खरमङ्गरी सटुक भी लिखा। कवि घनश्याम ने आनन्द-सुन्दरी सटुक के अतिरिक्त एक बड़ी संख्या में संस्कृत में मौलिक ग्रन्थ, नाटकादि रूपक तथा टीकाओं का प्रणयन किया था। केवल रुद्रदास की चन्द्रलेखा सटुक के अतिरिक्त किसी अन्य कृति का हमें ज्ञान नहीं है किन्तु उसने भी अवश्य ही कई रचनाएँ की होंगी जिनमें संस्कृत रचना भी रही हों। मार्कण्डेय तो प्राकृत भाषा के व्याकरण ग्रन्थ 'प्राकृत-सर्वस्त्र' के रचयिता थे ही, जिनके विलासवती सटुक सम्प्रति की प्राप्ति नहीं हो रही है।

इस प्रकार प्राकृत भाषा ने अब मध्य एवं उत्तरकाल में एक अभ्यास-साध्य भाषा की तरह संस्कृत की स्पर्धा में अपना रूप खड़ा किया था। इस स्वरूप का अध्ययन करने तथा प्रयोग करने वाले व्यक्ति में जब साधारण बुद्धि (या सामान्य-जन) का प्रवेश नहीं रहा तो रुचि भी कम हो गयी। इसी कारण जब संस्कृत की तरह प्राकृत भाषा के अध्ययन का अवसर आता तो प्रायः विद्वान् संस्कृत का अध्ययन करके ही अपनी लोकयात्रा में प्रवृत्त हो जाते थे। इस कारण प्राकृत भाषाओं के अध्येताओं तथा प्रेमियों की होनेवाली संख्यागत न्यूनता ने प्राकृत रचनाकारों को प्रोत्साहित नहीं किया तथा इसी कारण सामान्य अध्येता की रुचि से प्राकृत भाषा की रचनाएँ दूर होने लगीं और अब यह केवल पण्डितों और राजदरबारों में ही चर्चा का विषय बनती रही। इस कारण उनका अनुशीलन न्यून रहने लगा जो सटुकों की प्राप्ति संख्या से स्पष्ट होता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण है सटुकों की एकपक्षीय स्थिति, जिसका रूपक-साहित्य में केवल आंशिक महत्व ही है। रूपक के भेद प्रभेदों का सम्बन्ध संस्कृत भाषा के साथ निर्वाध चल रहा था तथा संस्कृत के सभी अंग नवीन रचनाओं से समृद्ध होते चले आ रहे थे। यह क्रम किसी भी शताव्दी में कम गतिशाली नहीं रहा, जब कि प्राकृत भाषा में रचनाएँ धारावाहिक स्थिति में नहीं रह पायीं।

दूसरी ओर भारतीय भाषाओं का इधर अपनेश्वर भाषा के काल से लेकर जो भारत में विकास हुआ, उसने भी प्राकृत भाषा को लोकव्यवहार के पद से अपदस्थ कर उसे

पाठ्य-भाषा बना दिया। इसी कारण भारत के विविध ग्रन्थों में प्रान्तीय भाषाएँ अपना साहित्य समृद्धतर करने में समर्थ हुईं तथा परिणामस्वरूप प्राकृतभाषा का अपना जनभाषा का समर्कं दूर हटता गया तथा इसमें नवीन रचनाओं का निर्माण भी विरल हो गया। घनश्याम के आनन्दमुन्दरी सटूक के बाद आज तक किसी नवीन सटूक के निर्माण का हमें ज्ञान नहीं है, जब कि इस युग में भी संस्कृत रूपकों का रचनाक्रम वड़ी बेगवती धारा में प्रवाहित है। लोकरुचि के अधिक शिष्ट हो जाने के कारण भी अब सटूकों के रूढिवद्ध स्वरूप में जनता की रुचि कम हो गयी तथा रूपकों के विविध रूपों में व्यापक रूप से उनने पुनः रुचि लेना आरम्भ कर दिया। दूसरा और जनता ने मनोरञ्जन के विविध प्रकारों को सुझेता के साथ देखना प्रारम्भ कर दिया, जिससे नाट्य के विकास के अधिकाधिक अवसर प्राप्त हुए। रूपकों के विकास में भारतीय प्रज्ञा ने स्थिर यश की प्राप्ति देखी, जिसने प्राचीन काल से लेकर भारत को साहित्य में उच्च प्रतिष्ठा दिलवायी थी तथा जिसकी आज भी सम्य देश प्रशंसा करते हैं। इन्हीं कारणों ने सटूकों के बैचे-बैचाये रूप के प्रति जनता का आकर्षण कम किया और रचनाकार की प्रवृत्ति में कमी आने से नवीन रचनाएँ भी आगे नहीं हो पायीं।

प्रस्तुत संस्करण

श्री विश्वेश्वर पाण्डेय प्रणीत रूपकों में नवमालिका नाटिका का सम्पादन मैंने आज से कई वर्ष पूर्व किया, जिसका 'मालवमयूर'-संस्कृत मासिक में धारा-वाहिक रूप में प्रकाशन हुआ था। उसकी हस्तलिखित प्रति एक ही उपलब्ध थी तथा वह भी दक्षिण भारत में। इस प्रकार इस नाटिका का भी एक व्यवस्थितक्रम में प्रकाशन हो गया परन्तु इन्हीं की शृङ्खारमञ्जरी-सटूक की भी स्थिति प्रायः यही थी। इस बार इसकी प्रतियाँ दो पूना में मिल जाने से सम्पादन में पाठों की शुद्धता के लिए पर्याप्त सरलता रहो, संस्कृतच्छाया का निर्माण प्रस्तुत सम्पादक ने हिन्दी अनुवाद तथा संक्षिप्त संस्कृत छायामात्र को दिखलाने वाली टीका के साथ इस संस्करण में रख कर (इसे) प्रस्तुत किया है तथा आरम्भ में (एक) प्रस्तावना में समस्त प्रमेय तथा प्राप्ति सटूकों का विवरण भी समीक्षादि के साथ दे दिया है जिससे इस विधा के अभ्यासकों को पर्याप्त सामग्री

तथा विचार प्राप्त होंगे। इसके अतिरिक्त कर्पूरमञ्जरी मात्र से प्राकृत के सट्टकों के अनुशीलन में अब एक संख्या और वृद्धिगत होगी जो प्राकृतभाषा के अध्ययन में रुचि-विस्तार भी करेगी यह आगा है। अच्येताओं के मुत्तिधार्य इसमें शब्द-सूची परिजिष्ठ भी लगा दिया है जिससे कृति के अनुशीलन में सरलता होगी।

आभार

अब प्रस्तुत प्रन्थ के प्रकाशन, व्याख्यान तथा सम्पादन कार्य में प्राप्त सहकार तथा आवारों का उल्लेख अपेक्षित है। अतः सर्व प्रथम मैं भाण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन मन्दिर, पूना तथा उसके निदेशक का आभार मानता हूँ जिनके आगार स्थित हस्त-लेखों का भी पर्याप्त उपयोग हुआ। इसके अतिरिक्त डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये के द्वारा शृङ्गारमञ्जरी के विषय में किये गये विवेचन तथा सट्टकों को समीक्षादि सामग्री का भी पर्याप्त उपयोग रहा। इसके अतिरिक्त मेरे मित्र डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी, प्रवाचक लालबहादुर संस्कृत विद्यापीठदेहली तथा प्रो० वी० वेढ्हुटाचल, अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, विक्रम विश्वविश्वविद्यालय, उज्जैन, प्रो० डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, प्रवाचक, संस्कृत, विक्रम विश्वविद्यालय का भी विविध सहयोग के लिए आभार मानता हूँ। मेरे सहयोगी एवं ज्येष्ठवन्धु प्रो० कृष्ण शास्त्री कानिटकर, संस्कृत प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, संस्कृत अध्ययन मण्डल इन्दौर विश्वविद्यालय तथा डॉ० प्रभाकर नारायण कवठेकर, प्राचार्य, संस्कृत महाविद्यालय तथा कला-संकायाध्यक्ष, इन्दौर विश्वविद्यालय का भी हृदय से आभार मानता हूँ जिनके उदार सहयोग का इस कृति के प्रकाशन में पदे पदे स्मरण आता है।

अन्त में विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी के अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तमदास मोदी का भी इस क्रम में आभार मानता हूँ, जिनने इसे अपने प्रकाशनों में स्थान देकर प्राकृत साहित्य की एक अप्राप्त कृति को पाठकों तक पहुँचाया।

विद्वज्जन कृपाकांक्षी

प्रबोधिनी एकादशी
२० नवम्बर १९७७
इन्दौर.

बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

श्री विश्वेश्वर पाण्डेय प्रणोत्तम्

शृङ्गारमञ्जरी-सट्टकम्

(नान्दी)

ईसा-गुंफिअमाण-नंठि-सिद्धिलीआरत्थपञ्जाणए
तारावल्लहसेहरे षडसिंहा-दुल्लवलसव्वंगओ ।
जाए अंतर-संवसंत-कलहावेसाहिवद्विँड्विँ
अद्वेद्व पडिहासए कुणउ सा तुम्हाण गोरी पिअ ॥ १ ॥

श्रोगणपतये नमः । श्री सरस्वत्यै नमः ।

प्रणम्य श्री महाकालं विशालायामवस्थितम् ।
सर्वासामपि विद्यानां यमेव कारणं स्मृतम् ॥
शृङ्गारमञ्जरीनाम्नः विश्वेश्वरकवेः कृतेः ।
शुक्लेन वावूलालेन शाखिणा तन्यते खलु ।
व्याख्या वै पञ्चिका नाम सट्टकस्यार्थदर्शिनी ॥

अथ प्रारब्धग्रन्थसमाप्त्यर्थमादौ मड्गलमाचरति । ईसेति—।

ईर्ष्यागुम्फितमानग्रन्थशिथिलीकारार्थपर्यानते तारावल्लभशेखरे नव-
शिखादुर्लक्ष्यसर्वद्गतः । यस्याः अन्तरसंवसत्कलहावेशाधिवद्वस्थितिः
अर्धेन्दुः प्रतिभासते करोतु सा युष्माकं गौरी प्रियम् । अत्र अन्यधीसंधारणा
प्रयुक्तोऽपर्यः ॥ १ ॥

वह भगवती गौरी आपको इष्टकरी हो जिसके चरणों पर तारकों के अधिपति
चन्द्र को मस्तक पर धारण करनेवाले भगवान् शिव के द्वारा मत्सर के कारण
चत्पन्न अहंकार से उत्पन्न होनेवाली मानग्रन्थि को शिथिल करने के लिए आनत

हो जाने पर भी और जिसके पैरों की नख किरणों में सम्पूर्ण अंग प्रतिविमित होने पर भी पूर्णतया परिलक्षित नहीं हो पा रहे हैं। इसी कारण वहाँ मस्तकस्थ अर्धचन्द्र प्रतिविमित नहीं होने से जिसके अन्तःकरण में कलह का आवेदा आवद्ध न होने-सा आभास हो रहा है ॥ १ ॥

अविअ—

चावं पुष्पफलमधं तहु चिद्धथ सरं घेत्तूण भिगच्छडा
आढतं सहसा वि अङ्गिअगुणं वेद्युं पउत्तो रइ ।
तीए गत्तमउत्तणेण जणिआसंधो वि सेडंबुणा
उक्कंपेण अ पाणिणो पमुइओ पुष्पफाउहो रखखउ ॥ २ ॥

अपि च—। चावं इति । चापं पुष्पमयं तथैव च शरं गृहीत्वा भृडगच्छटा
आरबधं सहसा विकृष्य गुणं वेद्युं प्रवृत्तो रतिम् । तस्या गाव्रमृदुत्वेन
जनिताश्वासोऽपि स्वेदाम्बुना उत्कम्पेन च पाणे: प्रमुदितः पुष्पायुधो
रक्षतु ॥ २ ॥

और भी—

अपने पुष्पमय धनुप की पुष्पों के बाणों तथा भ्रमरावली से निर्मित प्रत्यक्षा को
सहसा खींचकर रति को आविद्ध करने के लिए जो उद्यत हो गया था पर फिर
जिसके बंगों की कोमलता को देखकर धीर स्वभाव होने पर भी (उसके शरीर पर)
स्वेदकणों को देखकर अपने हाथों के (लक्ष्य से) कम्पित होने पर भी जो प्रमुदित
हो रहा था । वहाँ पुष्पायुध मदन आपकी रक्षा करे ॥ २ ॥

(नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः)

सूत्रधारः—अलं दाव पारिसआणं विभणत्तण-हेदुणा अंगंतरपल्लवेण ।

(नेपथ्ये)

रई-मअण-णाअअं हसिभ-माहवी-लासिअं
पिआ-विरह-वेअणाउल-विद्वसअं पेच्छह ।
पसूणसमधं इमं वि रई-उज्जलप्पाइअं
मणोहरण-सट्टअं विअ विआमिपक्खं कअं ॥ ३ ॥

सूत्रधारः स्थापकापरपर्यायः । अलं तावत् परिषदानां विमनस्कहेतुना
अड्गान्तरपल्लवेन । रई इति । रतिमदननायकं हसितमाधवीलासितं प्रिया-
विरहवेदनाकुलविदूषकं प्रेक्षधब्दम् । प्रसूनसमयमिममपि रत्युज्ज्वलप्रायकं
मनोहरणसट्टकमिव विगामिपक्षं कृतम् ॥ ३ ॥

(नान्दी के उपरान्त)

सूत्रधार—अब दर्शकों को और अधिक आयास देनेवाले (अन्य) नाटकीय
अंगों का विस्तार (एवं प्रदर्शन) आवश्यक नहीं है ।

(नेपथ्य में)

रति और मदन के नायिका और नायक होने से, विकसित माधवी लता के
शोभित रहने तथा प्रिय की विरह-वेदना से व्याकुल हो जानेवाले विदूषक को दशा
के दिखलायी पड़ने से यह वसन्त सभी 'व्यक्तियों को उज्ज्वल या उद्दीप्त कर रहा है
और इस प्रकार यह मन को आकृष्ट करनेवाले सट्टक की तरह सभी व्यक्तियों को
अपने पक्ष में कर चुका है ॥ ३ ॥

(आकर्ण्य) कहुं अहिणेऽन्द्रुस्स च्छेऽ अत्थस्स पत्यावो उविभज्जइ ।
(विचिन्त्य) एवं पि अवरमणुउलं जदो एसो अज्जाए च्छेप्र आलावो ।
तह हि—

सरिसेसु वि वणेसुं इत्थोअख्खइ-विसेत्तओ अणो ।

तथ वि होइ अवंतर जाई जाए मुणिज्जइ विसेसो ॥ ४ ॥

कथमभिनेतुमिष्टस्यवार्थस्य प्रस्ताव उद्भ्रूद्यने । एतदप्यपरमनुकूलम् ।
यत एष आर्याएवालापः । तथाहि । सरिसेसु-इति । सदृशेष्वपि
वर्णेषु स्त्र्यक्षर-विशेषकाऽन्यः । तत्रापि भवत्यवान्तरजातिर्यवा ज्ञायते
विशेषः ॥ ४ ॥

सूत्रधार—(सुनकर) अरे, आश्चर्य की बात है कि यहाँ अभिनेय अर्थ के
अनुकूल बात का भी आरम्भ हो चुका है । (विचारते हुए) और यह और भी
अच्छा ही रहा कि यह आनेवाली आवाज भी आर्या की ही है । क्योंकि, यद्यपि
वर्ण समान ही (होते) हैं परन्तु फिर भी स्त्रियों के द्वारा उच्चारित वर्णों में एक
अपूर्वता रहती ही है और फिर इसमें विद्यमान अवान्तर प्रकार भी ऐसा (होता)
है, जो कि अन्यों से इसकी विशेषता अलग ही दिखला देता है ॥ ४ ॥

(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)

भासाविसेसजाणिरि सुविदिद-सेलूस-तंत-परमत्थे ।

बहुवर्णिणा-सुणितणे उवेहि सहसा इदो अज्जे ॥ ५ ॥

नेपथ्येति । भासा इति । भाषाविशेषज्ञानशीले सुविदित-शैलूष-तन्त्र परमार्थे । बहुवर्णिकासुनिपृणे उपैहि सहसा इतो आर्ये ॥ ५ ॥

(नेपथ्य की ओर देखकर)

भाषा के विशेष-ज्ञान से युक्त रहने और अभिनेताओं के समस्त तात्त्विक रहस्यों की जानकारी रखने के कारण अनेक भूमिकाओं को दक्षता से युक्त रखनेवाली है आर्ये, अब तुम यहाँ शीघ्र आओ ॥ ५ ॥

नटी—(उपसृत्य) अज्जस्स चरण-पंकड़-मूलोवणओ अअं जणो अत्थ । तेण अणुग्रहपुच्चं कज्जेसु आणविज्जउ जहिच्छं ।

सूत्रधारः—पहमं चित अज्जाए सलाहमाणाइ महुसमअं उवमाण-पअं णीओ अहिणिज्जउ जहत्थो ।

नटी—अहो अच्छरिअं । जेण रमणिज्ज-धर्मणिबंधनसारि-च्छाहि-प्पाएण मए सद्विष्टसंगे कए वि तं जजेअ अज्जस्स हिअआ-दिवुं संवृत्तं ।

सूत्रधारः—अह तत्थ रमणिज्जतणं किं णिबंधणं पेच्छइ अज्जा ।

नटी—आबम्हं आकीडं सिगारो बहुमदो असेसाणं ।

तत्थ वि हु विप्पलंभो अइमेत्तं बहुमओ छइलाणं ॥ ६ ॥

आर्यस्य चरणपङ्कजमूलोपनतोऽयं जनोऽस्ति । तेन अनुग्रहपूर्वं कार्येषु आज्जाप्यतां यथेष्टम् । प्रथममेव आर्यया इलाध्यमानया मधुसमयमुपमानपदं नीतोऽभिनीयतां यथार्थः ।

अहो आश्चर्यम् ! येन रमणीय-धर्मनिवन्धनसादृश्याभिप्रायेण मया सट्टकप्रसङ्गे कृतेऽपि तदेवार्यस्य हृदयोद्दिष्टं संवृत्तम् । अथ तत्र रमणीयत्वं किं निवन्धनं प्रेक्षते आर्या । आबम्ह—इति । आव्रह्याकीटं शृङ्गारो बहुमतोऽशेषाणाम् । तत्रापि हि विप्रलभ्मभोऽतिमात्रं बहुमतो विदग्धानाम् (छेकानाम्) ॥ ६ ॥

नटी—(शीघ्रता से समीप आकर) आर्य, मैं आपके चरणकमलों के मूल-प्रदेश में उपस्थित हो गयी हूँ। अब आप कुपा कर मुझे इष्ट आज्ञा प्रदान करिये ।

सूत्रधार—आर्य, आपने वसन्तऋतु की प्रशंसा करते हुए जिस उपमा को (बारम्भ में) वतलाया था उसी को अभिनय प्रयोग के साथ प्रस्तुत कर दर्शकों को दिखालाओ ।

नटी—अरे ! आश्चर्य की वात है कि सुन्दर गुणों से सम्पन्न रचनाशालिता की प्रशस्ति को ध्यान में रखकर मैंने तो सट्टक का उल्लेख मात्र ही किया था जो अब मेरे कथन की तरह आपके भी मन में (जोरों से) जम बैठा है ।

सूत्रधार—अच्छा तो इसमें सौन्दर्य जिन-जिन विशेषताओं पर आधूत होता है उनका आप कैसे अनुभव करती हैं ।

नटी—प्राणियों में ब्रह्मा से लेकर कीट तक सभी को शृंगाररस इष्ट या प्रिय होता है और इसमें भी विदग्धजन तो विप्रलम्भ-शृङ्गार को ही अधिक पसन्द करते हैं ॥ ६ ॥

सूत्रधारः—अणुमअं इदं अम्हाणं ।

नटी—कस्स किदी । कि णामअं सद्ब्रुं अम्हेर्हि अहिणेअव्वं ।

सूत्रधारः—सुणादु अज्जा ।

विज्जाठाणे सअले अच्चतं अहिणिविदु-विण्णाणो ।

अइतिक्खबुद्धिविहवो सुववइ लच्छीहरो विबुहो ॥ ७ ॥

अनुमतमिदमस्माकम् । कस्य कृतिः । कि नामकं सट्टकमस्माभिर-भिनेतव्यम् ।

शृणोत्वार्या । विज्जाठाणे-इति । विद्यास्थाने सकलेऽत्यन्तमभिनिविष्टविज्ञानः । अतितोक्षणबुद्धिविभवः श्रूयते लक्ष्मीधरो विवुधः । विवुधः पण्डितः । विद्यास्थानानि ‘पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्ग-मिश्रताः ।’ इत्यादि याज्ञवल्क्यस्मृत्युक्तानि ज्ञेयानि ॥ ७ ॥

सूत्रधार—अच्छा तो हमें भी यही मान्य है ।

नटी—तो फिर किसके द्वारा रचित और किस सट्टक का अब हम (आज) अभिनय प्रस्तुत करें ।

सूत्रधार—आर्य, ध्यान से सुनो । सुना है कि लक्ष्मीधर नामक ऐसे विद्वान् हैं जिनका सभी विद्याओं तथा शास्त्रों में अतिशय पाण्डित्य है तथा जो अपनी तीक्ष्णतर बुद्धि के वैभव से मणित भी हैं ॥ ७ ॥

तस्स सुओ तस्स छिद्दिआ पठ-पम्म-पराआ-परिपुओ ।

बहुविबुह-वराहिमओ वीसेसरणामओ अतिथ ॥ ८ ॥

तस्य सुओ-इति । तस्य सुतस्तस्यैव पदपद्यपरागपरिपुतः । बहुविवुध-वराभिमतः विश्वेश्वरनामकोऽस्ति ॥ ८ ॥

उन्हीं श्री लक्ष्मीधर पण्डित के चरण-पराग से पवित्र होनेवाले तथा अनेक श्रेष्ठ विद्वानों के द्वारा मान्य 'विश्वेश्वर' उन्हीं के पुत्र हैं ॥ ८ ॥

सुघडिआ-समत्पत्ता विहाआ-संठिआ-सअलंगा ।

परम-चमकिकविजणणो तस्स अ सिंगारमंजरीति किदी ॥ ९ ॥

सुघडिआ इति । सुघटितसमस्तपात्रा विभाग-संस्थापितसकलाड्गा । परमचमत्कृतिजननी तस्य च श्रुंगारमञ्जरीति कृतिः ॥ ९ ॥

इन्हीं की 'शृङ्गारमञ्जरी' नामक कृति है, जिसमें सभी पात्र उत्तम घटनाओं से मणित हैं, रस के विभावादि सभी अंग भली-भाँति अवस्थित किये गये हैं और जिसमें अतिशय चमत्कार भी विद्यमान है ॥ ९ ॥

अवि अ—

बहुविहकलाविअद्दा परिणिठ्ठिआ-सब्ब-आअम-महत्या ।

सामाइआ बुहवरा तं अहिणेउं पउज्जंति ॥ १० ॥

अपि च । बहुविह-इत्यादि । बहुविधकलाविदग्धा परिनिष्ठितसर्वागम-महार्था । सामाजिका वुधवरास्तामभिनेतुं प्रयोज्यन्ते ॥ १० ॥

और भी—

अनेक कलाओं में पारंगत और समस्त शास्त्रों के मार्मिक विद्वान् सामाजिकों के द्वारा इसी कृति को अभिनीत करने की प्रेरणा दी गयी है ॥ १० ॥

नटी—अच्चरिअं अच्चरिअं । जेण केण वि कए पओए महप्पाणं अहिणिवेसोति ।

सूत्रधारः—ए हु वत्ति-विसेस-णिम्मिअं रमणिज्जं ति तमप्पओअअं ।

गुण-णिठ्ठु-विसेस-सालिदा उण कव्वारिहणा-णिबंधणं ॥ ११ ॥

आश्चर्यमाश्चर्यम् । येन केनापि कृते प्रयोगे महात्मनाभिनिवेशोऽस्ति ।
ण हु-इति । न खलु व्यक्तिविशेषपर्निर्मितं रमणीयमिति तदप्रयोजकम् ।
गुणनिष्ठविशेषशालिता पुनः काव्याहंणानिवन्धनम् ॥ ११ ॥

नटी—अरे, आश्चर्य है और यह तो वडे आश्चर्य की बात भी है कि आज
किसी अन्य की ही रचना को प्रस्तुत करने का सामाजिक आग्रह कर रहे हैं ।

सूत्रधार—आर्ये, यथार्थ बात तो यह है कि किन्हीं विशिष्ट पुरुषों के द्वारा
निर्मित होने मात्र से रचना को रमणीय या अन्य नहीं माना जाता । काव्य की
योग्यता तो विशेषरूप से गुणों के आधार पर ही निश्चित होती है ॥ ११ ॥

नटी—एवं जह अज्ञो आग्रेदि । कि उणं तस्य कद्वं सहित-
रंजण-समर्थं वि कहं ति संक्तथो ।

सूत्रधारः—मा एवं संकीर्तु । सो खलु—

जाणा-रुअ-कइत्तण-प्यणयणे अव्वाह्यो सद्वयो

सद्वंगे कअ-चद्वणे वि अहिले कव्वाअमे अद्वणं ।

चक्कीणं कुलचक्कवट्टि-भणिई-चक्के अचुक्कक्कुद्वी

आचक्कोअदि अक्कवाअवअणाहिक्कावणे अक्कओ ॥ १२ ॥

एवं यद्यार्य आज्ञापयति । किम्पुनस्तस्य काव्यं सहृदयरञ्जनसमर्थमपि
कथमिति शङ्कार्थः । मा एवं शङ्क्यताम् । स खलु ।

णाणारुअ-इत्यादि । नानारूपकवित्वप्रणयनेऽव्याहृतः सर्वतः
सर्वाङ्गे कृतचर्चणेऽपि अखिले काव्यागमेऽव्याहृतम् । चक्रीणां कुलचक्रवर्ति-
भणितिचक्रेऽच्युतस्थितिः आचक्षयते अक्षपादवचनाभिख्यापनेऽक्षतः । अनेन
कवे: निपुणत्वं सर्वातिशायित्वश्च संसूच्यते ॥ १२ ॥

नटी—हीं ठीक है । तो फिर जैसी आर्यपुत्र आज्ञा दें । परन्तु ऐसी रचना
सहृदयों के रंजन में समर्थ होगी भी या नहीं, यह फिर भी 'शंका' का आधार
बनकर खड़ी ही है ।

सूत्रधार—यह आशंका निराधार है, क्योंकि इसका रचनाकार अनेक काव्य-
विधाओं के निर्माण में अव्याहृत गतिवाला है और वह सभी अंगों की आस्वादन
प्रक्रिया से अभिज्ञता रखने के कारण उसे काव्यशास्त्रीय स्वरूप में सम्पन्न करवाने

में सक्षम हैं, वह राष्ट्रव्यापी विद्वानों के परम्परागत तथा कुलीन उद्गारों या शास्त्रवचनों पर पूर्णतः आस्त है और अधिपाद प्रोक्त शास्त्र (तर्कशास्त्र या न्यायशास्त्र) का अध्यापन विना किसी व्यवधान के करता चला आ रहा है ॥ १२ ॥

नटी—ता कारीअदु तत्थभवंताणं सामाइआणं णिओओ ।

सूत्रधारः—इमिणा अज्जाए सइत्तणेण सविसेसं अणुग्रहिओ ह्ति ।

नटी—अज्ज, को जाप विसेसो अज्जेण उअलद्दो ?

सूत्रधारः—अज्ज क्खु पहाअ-कप्पाए रअणोए सथण-अलप्पसुत्ताए अज्जाए रोस-फुरिआहर-दलं णिवद्धभिउडी-विभंगुरणिलाडं अम्हं परिसु-इअ-पासं मा भं छिवसु त्ति भणिओ ह्ति । तदो अ कि एदं सिविणअ-विलसिअं कि वा दविखण-परिच्छणमाण-दिअंभिअं तवकअंतो वि प्पसुत्त-परिबोहण-णिसेहालोअणेण तहिं अणिद्वारिअभूअत्थो सामाइओवद्धाण-णिअंतणवसेण तदो अवसरिओ ताणं णिओएण सद्वाहिणअत्थं पउत्तो जाव अज्ज अणुणइअ एत्थ अत्थे पवह्निस्तं त्ति आबच्छन्नित ताव अज्जाए किज्जांतं महुमास-प्पसर्ति पत्थुआणुउलं सुणिअ जाआसंघो अज्जाए मिललेण संभाविओ ह्ति ।

नटी—(सलज्जम्) ण क्खु कि पि मम भाणे कालणं । कि उण—

सिविणअ-दसा-वलेण अज्जो परकामिणीसत्तो ।

अइवेलं अणुह्नओ तेण तहिं तारिसं बुत्तं ॥ १३ ॥

तद क्रियतां तत्रभवतां सामाजिकानां नियोगः । अनेन आर्याः सतीत्वेन सविशेषमनुगृहीतोऽस्मि । आर्य, को नाम नियोग आर्येण उपलब्धः ।

अद्य खलु प्रभातकल्पायां रजन्यां शयनतलप्रसुप्ताया आर्यया रोष-स्फुरिताधरदलं निबद्धभुकुटि-विभङ्गुरललाटम् अस्माकं परिमुक्तपाश्वं मा मां स्पृशेति भणितोऽस्मि । ततश्च किमेतत् स्वप्नविलसितं कि वा दाक्षिण्य-परिच्छन्नमान-विजृम्भितं तर्क्यन्नपि प्रसुप्तपरिवोधनिपेघालोकनेन तदा अनिद्वारितभूतार्थः सामाजिकोपस्थान-नियन्त्रण-वशेन ततोऽपसृत-स्तेषां नियोगेन सट्टकाभिनयार्थं प्रयुक्तो यावदार्यमनुनय्य अत्रार्थं प्रवर्त-

यिष्यामीत्यागच्छामि तावदार्यं या क्रियमाणां मधुमासप्रशस्ति प्रस्तुतानुकूलां
श्रुत्वा जाताश्वास आर्याया मिलनेन सम्भावितोऽस्मि ।

न खलु किमपि मम माने कारणम् । किं पुनः । स्वप्नकदशावलेन
आर्यः परकामिनी-सक्तः । अतिवेलमनुभूतस्तेन तदा तादृशं वृत्तम् ॥ १३ ॥

नटी—अच्छा ! तो फिर मान्य दर्शकों की आज्ञा की पूर्ति करनी चाहिए ।

सूत्रधार—तुम जैसी पतिव्रता पत्नी की ऐसी आज्ञाकारिता से आज मैं विशेष अनुगृहीत हूँ ।

नटी—आर्य, आज आपने मेरी किस विशेष आज्ञाकारिता को प्राप्त किया ?

सूत्रधार—आज ही रात्रि के अवसान के समय जब शम्या पर सोयी हुई आर्या ने क्रोध से ओठों को फड़काते हुए और ललाट पर ब्रुकुटी चढ़ाकर हमसे दूर हटते हुए कहा—आप मुझे अब स्पर्श मत कीजिये । तब मैंने सोचा कि ऐसा क्या किसी स्वप्न के देखने से हो रहा है या दाक्षिण्य से दबे हुए क्रोध के प्रकट करने का यह कोई प्रकार है । ऐसी तर्कना करते हुए मैंने यही विचार किया कि सोये हुए को जगाना नहीं चाहिए और इसी कारण सत्य बात का निश्चय न कर सामाजिक प्रेक्षकों की सेवा के बन्धन में रहने से वहाँ से बाहर निकलकर और उन्हीं प्रेक्षकों के आदेश पर सट्टक का अभिनय करने के कार्य में जुट गया । जब इसी के लिए आर्या को भी समझाने और अभिनय में जुट जाने के लिए मैं कहने ही जा रहा था तभी प्रस्तुत प्रसंग के अनुकूल ही आर्या के द्वारा की गयी वसन्तऋतु की प्रशस्ति सुनकर थोड़ा धैर्य धारण करते हुए मैं आपके समीप आकर इस प्रकार अनुगृहीत हुआ हूँ ।

नटी—(लजाते हुए) मेरे रूप जाने या मान धारण करने की तो कोई बात ही नहीं है । क्योंकि मुझे तो स्वप्न में होनेवाली स्थिति में आर्य को अधिक समय तक परकामिनी में आसक्त रहने का अनुभव होने से ऐसी बात हुई ॥ १३ ॥

तदो अ पदिबुद्धाए मए मा णाम एअं अज्जेण सुदं भोदु त्ति चित्तिअ
अत्तणो विणीअणत्यं महुसमअं उद्दिसिअ एकको सिलोबो पद्धिओ । अणतरं
अ अज्जेण समागदह्नि ।

सूत्रधारः—तदो ण किं पि रादं । जदो—

अत्थाणं असंताणं वि इह अणुहव-गोअरेअराणं पि ।

णिछा जणेइ बोहं अदिभू-सक्कार-माहप्पा ॥ १४ ॥

ततश्च प्रतिवुद्धया मया मा नामैतदार्येण श्रुतं भवत्विति चिन्तित्वात्मनो
विनोदनार्थं मधुसमयमुद्दिश्येकः इलोकः पठितः । अनन्तरञ्चार्येण समा-
गतास्मि । ततो न किमप्येत् । यतः

अथनामसतामपि इहानुभवगोचरेतराणामपि । निद्रा जनयति बोध-
मदृष्टसत्कार-माहात्म्या ॥ १४ ॥

पर जब मैं जाणी तो मुझे विचार आया कि स्वप्न में कही हुई वात कहीं
आर्य ने न सुन ली हो, ऐसी आशंका के कारण स्वयं के मनोविनोद के लिए ही
जब बसन्तऋतु को लक्ष्य कर एक पद्म मैंने पढ़ा था । और फिर आपके द्वारा
समीप बुला ली गयी ।

सूत्रधार—तब फिर कोई वात नहीं । क्योंकि किसी वात से सम्बद्ध रहने या
असंबद्ध रहनेवाली और कभी-कभी तो अनुभव में न आनेवाली किसी निराली या
अदृष्ट वस्तु का ही निद्रा के द्वारा ज्ञान होने लगता है । (इसी कारण इसका महत्व
नगण्य-सा होता है ।) ॥ १४ ॥

(नेपथ्ये)

साधु साधु ।

नटी—को एसो अज्जं सलाहेदि ।

सूत्रधारः—अप्प-हिअ-द्विअत्थ-संवाद-परितुद्देण केण ति होदद्वं ।
(निपुणं निरूप्य) कहं उवबणागओ महाराज-राजसेहरो ज्जेअ एसो
दीसदि । ता अणंतराहिणए पवट्टामो । (इति निष्कान्तौ)

प्रस्तावना ।

साधु साधु । क एष आर्य श्लाघते ।

आत्महृदय-स्थितार्थसंवाद-परितुष्टेन केनापि भवितव्यम् । कथमुपव-
नागतो महाराजराजशेखर इवैष दृश्यते । तदनन्तराभिनये प्रवर्तविहे ।

(नेपथ्य में)

ठीक है ! विलकुल ठीक कहा है !!

नटी—अरे ! यह कौन है जो आर्य की प्रशंसा (या समर्थन) कर रहा है ।

सूत्रधार—यह कोई अपने मनोनुकूल वात को पाकर प्रसन्न होनेवाला ही

पुरुष होना चाहिए । (ध्यान से देखकर) अरे ! यह तो उपवन में आनेवाले महाराज राजशेखर हैं । तो हमें आगे के कार्यों के करने के लिए चलना चाहिए ।
 (दोनों का प्रस्थान)

(प्रस्थावना)

(ततः प्रविशत्युपवनगतो राजा)

राजा—सट्टु भणिदं केणावि । तं जहा—

अत्थाणं असंताणं चि इह अणुहव-गोअरेअराणं पि ।

णिछा जणेइ बोहं अदिट्टुसदकारमाहप्पा ॥ १५ ॥

सुष्ठु भणितं केनापि । तद्यथा—अर्थानामसतामपि इहानुभवगोचरे-
 तराणामपि । निद्रा जनयति बोधमदृष्टसत्कारमाहात्म्या ॥ १५ ॥

(उपवन में आते हुए महाराज राजशेखर का प्रवेश)

राजा—किसी ने ठीक ही कहा है कि किसी बात से सम्बद्ध रहने या असम्बद्ध रहनेवाली और कभी-कभी अनुभव में न आनेवाली किसी निराली या अदृष्ट वस्तु का हो निद्रा के द्वारा बोध होता है ।

(प्रविश्य विदूषकः)

विदूषकः—उवकण्णं भणइ पिअवअस्सो । कहमण्णहा—

गअण-सरियाइ सोस्ते अवभमुवल्लह-गइंद-मारूहो ।

अर-अंवर-संवीओ दिट्टो सि भवं मए पसुत्तेण ॥ १६ ॥

उपपन्नं भणति प्रियवद्यः । कथमन्यथा—

गगनसरितः सातसि अभ्रमुवल्लभगजेन्द्रमारूढः । वर-अम्बर-संवीतो
 दृष्टोऽसि भवान् मया प्रसुप्तेन ॥ १६ ॥

(विदूषक का प्रवंश)

विदूषक—प्रिय मित्र यह बात बिलकुल ठीक ही कह रहे हैं । क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो फिर—जब मैं (आज) निद्रा में लीन था तो मैंने स्वप्न में देखा कि आप आकाशगंगा के प्रवाह में अवस्थित ऐरावत गज पर आरूढ़ होकर उत्तम वस्त्र धारण किये हुए हैं ।

राजा—(विलोक्य) कहं वअस्तो गोअमो उअणओ । वअस्स, एत्थ
आसीअदु ।

विदूषकः—जं आणवेदि वअस्तो । (इति तथा करोति)

राजा—वअस्स गोअम, पेच्छ विहिणो अणहिजामत्तणं । तदो—

अप्पाणुरुल्ज-रमणिज्ज-प्रत्यसत्थलाहेण णिब्बुदमणम्भ जणे समत्ते ।

अणाम-दुल्लह-जणंतर-दंसणेणर्त्तिदिवं बहु गुणेइ विआरभारं ॥ १७ ॥

कथं वयस्यो गौतम उपनतः । वयस्य, अत्र आस्यताम् । यदाज्ञापयति
वयस्यः ।

वयस्य गौतम, पश्य विघेरनभिजातत्वम् । ततः आत्मानुरूप-रमणीय-
पदार्थसार्थ-लाभेन निवृतमनसिजने समस्ते । अज्ञात-दुर्लभ-जनान्तर-दर्शनेन
रात्रिदिवं बहुगुणयति विकारभारम् ॥ १७ ॥

राजा—(देखकर) अरे, यह तो मेरा मित्र गौतम आ गया । मित्र, यहाँ बैठजाइये ।

विदूषक—जैसी मेरे मित्र की आज्ञा । (बैठ जाता है)

राजा—मित्र गौतम, जरा भाग्य की विडम्बना तो देखो कि—

अपने अनुरूप सुन्दर पदार्थ की प्राप्ति हो जाने पर सभी व्यक्तियों के मन
आनन्दित हो उठते हैं पर विधाता कभी-कभी अज्ञात एवं दुर्लभजन के (स्वप्न
आदि में) दर्शन करवा कर मानसिक बोझ को दिन-रात और भी अधिक बढ़ा
देता है ॥ १७ ॥

विदूषकः—विष्णादं ख्वु मए सिविणज-सहाव-कित्तण-प्पसंगेण
सामण्णदो । ता विसेसं दाव देओ कहेउ ।

राजा—वअस्स, भूतत्थं दे णिवेदेमि । अह कह्यपज-ख्वण-मेत्तावसिद्वाए
अइकंतरअणीए एकवरगमाणसो सुवंतो ह्ति । तदो अ अउच्च-लावण्ण-
विसेस-णिहाणं दोसाणं णिसगग-विरोहिणी सञ्ज लंगणाजण-गब्बुप्पत्ति-
प्पडिबंधिअ व्व णाइअंतरख्वेण सअणस्स भुअणजअ-प्पउत्ति भमपुविवां व
णावेती, अच्छरा-लावण्ण-दंसणेण मुणिगणाणं माणसविक्षेषोहुं चिरसंचित्त-
घम्म-विणासमेत्तफलां व कहेती, इत्थीअंतरेसु रमणिज्जन्तण-विणाणं
मिच्छाहूं व कुणंती, पआवइणो रुआइसअ-जणअ-चरम-विणाण-जणअ
व्व का वि वरवणिणी विलोइदा ।

विदूषकः—अहो अच्चरितं । तदो तदो ।

राजा—संपत्तजम्मफलओ व्व सुराहिणाह-

रज्जे पडिण्डिमुवाग्मिओ व्व सच्चं ।

बहुदेवकभाअपडिलंहृणमेत्तवेज्ज—

आणंद-कंदलमणो व्व ताहि ठिदो ह्लि ॥ १८ ॥

विज्ञातं खलु मया स्वप्न (क) स्वभावकीर्तन-प्रसंगेन सामान्यतः ।
तद्विशेषस्तावद देवः कथयतु ।

वयस्य, भूतार्थं ते निवेदयामि । अथ कतिपय-क्षणमात्रावशिष्टायामति-
क्रान्तरजन्यामेकवर्गमानसः स्वपनस्मि । ततश्चापूर्वलावण्य-विशेष-निधानं
दोषाणां निसर्गविरोधिनी सकलाङ्गनाजन-गर्वोत्पत्ति-प्रतिबन्धकेव नायि-
कान्तर-रूपेण मदनस्य भुवनजयप्रवृत्तिं ऋमपूर्विकामिव ज्ञापयन्ती, अप्सरो-
लावण्य-दर्शनेन मुनिगणानां मानसविक्षोभं चिरसञ्चितधर्मविनाशमात्र-
फलकमिव कथयन्ती, स्त्र्यन्तरेषु रमणीयत्वविज्ञानं मिथ्याभूतमिव कुवंती,
प्रजापतेः रूपातिशयजनकचरम-विज्ञान-जनिकेव कापि वरवर्णिनो विलो-
किता । अहो आश्चर्यम् । ततस्ततः:

सम्प्राप्तजन्मफलक इव सुराधिनाथ-राज्ये प्रतिष्ठितमुपागमित इव
सत्यम् । ब्रह्मेकभावप्रतिलभ्नमात्रवेद्यानन्दकन्दलमय इव तत्र स्थितोऽ-
स्मि ॥ १८ ॥

विदूषक—मैंने स्वप्नों के स्वभाव-वर्णन द्वारा सामान्य रूप में यह बात समझ
ली हैं पर इसकी विशेष बात भी आप बतलाइये ।

राजा—मित्र, अब मैं इससे घटनेवाली (विशेष) बात बतलाता हूँ । जब
रात्रि के बीतने में कुछ ही क्षण बचे थे और रात्रि एक तरह से बीत ही चुकी होगी
तब मैं एकाग्रचित्त से नींद ले रहा था । तब मैंने सुन्दर वर्णशाली एक अपूर्व
सुन्दरी को स्वप्न में देखा । यह अपने अपूर्व लावण्य के साथ-साथ (सम्भावित)
नारी के सहज दोपों से (एकदम) रहित थी, यह सारी अंगना जाति के सांदर्य-
गर्व की उत्पत्ति में प्रतिबन्ध उत्पन्न करने में समर्थ थी, जो किसी अन्य नायिका
या सुन्दरी के सहयोग द्वारा मदन के विश्वविजय की बात को अपने (गुणों के)

द्वारा अमग्नुलक-सा दिखलाती थी, जो अपने अप्सराओं से सौन्दर्य को दिखलाने के कारण मुनिग्रन के अन्तःकरणों में क्षोभ उत्पन्न कर उनके दीर्घकाल से संचित धर्म की समाप्ति को प्रकट कर रही थी, अन्य सुन्दरी ललनाजन में विद्यमान सौन्दर्य-विज्ञान को अपने समक मिथ्या सिद्ध कर रही थी तथा जिसने ब्रह्मदेव के श्रेष्ठतम निर्माण कीशल को चरम स्थिति को उत्पन्न करवाया था ।

विदूषक—अरे ! यह तो वड़ी आश्चर्य की घटना हुई । अच्छा फिर इसके बाद !

राजा—(उसे देखकर) तब सचमुच मैंने अपने जन्म लेने का मानो फल प्राप्त किया हो य इन्द्र के राज्य-सी प्रतिष्ठा प्राप्त की हो या ब्रह्मप्राप्ति से होनेवाले अनुभवमात्र वेद आनन्द के उद्भव को पूर्ति हो गयी हो, ऐसी स्थिति बन गयी ॥ १८ ॥

विदूषकः—जुज्जइ अउच्च-पदत्थ-वैंसणेण आणंदो । तदो तदो ।

राजा—अणां वि तीए विसेसो वअस्सेण विण्णादो भोदु । तह हि—

जरंत-सर-पंडुरा करअले कदोलत्थली

पुरो वि विसअग्नहो वरमणेण सुणं भणं ।

तहाहरमिलाणदा अणुमित्तुण्डभावं थण—

प्पकप-अणुमाविअं ससिअभेकमुर्जिजभइ ॥ १९ ॥

युज्यते अपूर्वपदार्थदर्शनेन आनन्दः । ततस्ततः ।

अन्योऽपि तस्या विशेषा वयस्येन विज्ञातो भवतु । तथाहि—

जरच्छरपाण्डुरा करतले कपोलस्थली पुरोऽपि विषयग्रहोपरमणेन शून्यं मनः । तथाऽधरम्लानता अनुमित्ताण्डभावं स्तनप्रकम्पानुमापितं इवसितमेक-मुज्जृम्भते ॥ १९ ॥

विदूषक—यह ठीक है कि अपूर्व वस्तु के दर्शन से आनन्द तो होता ही है । अच्छा फिर क्या हुआ ?

राजा—मित्र, उसकी अवस्थागत वातों को भी विशेष रूप में तुम्हें समझना है । क्योंकि—

उसके कपोल सरकंडे-से पाण्डु वर्णवाले थे जिन्हें वह अपने हाथ के तल पर टिकाये थी, समुखवर्ती पदार्थ को भी ग्रहण करने में मन असमर्थ और शून्यभाव लिये हुए था, उसके अधर म्लान थे और अन्तःकरण वैकल्य की उष्मा से युक्त था

जिसका चन्द्रविम्ब की तरह बढ़नेवाले श्वासों से 'उसके' उरोजों के कम्पन का अनुमान होता था ॥ १९ ॥

विदूषकः—परिशेषेण जाणीजदि ।

हिंडअ-दइआस्त कस्स वि महग्धसुकिदेवक-सारस्स ।

असमागमेण जगिदो वालाए हिंडअ-संदावो ॥ २० ॥

परिशेषेण ज्ञायते । हृदय-दयितस्य कस्यापि महार्घ-सुकृतक-सारस्य ।
असमागमेन जनितो वालाया हृदय-सन्तापः ॥ २० ॥

विदूषक—वस ! अब मैं दोप वात जान गया हूँ ।

अत्यन्त अनर्थ पुण्यों के सारमय फलस्वरूप किसी हृदय-प्रिय व्यक्ति से मिलन न हो पाने से उस वाला का अन्तःकरण सन्तुष्ट हो रहा था ॥ २० ॥

राजा—वअस्स, दंसिअं तुए अत्तणो गोअमत्तणं ।

विदूषकः—(सर्वाम्) तदो तदो ।

राजा—अह सा देईए तंबोल-करंकवाहिणीए वसन्ततिल हाए सहि,
संज्ञासमओ पउत्तो ता अडधंतरं गच्छामोति भणिआ ।

करवाल-धरिअमहिअला कहुंपि णिम्मविअ-पथ यडिहुआ ।

समविउणिअ-णोसासा समुडिआ बालहरिणच्छी ॥ २१ ॥

वयस्य दाशतं त्वयाऽस्तमनो गौतमत्वम् । ततस्ततः ।

अथ सा देव्यास्ताम्बूलकरङ्कवाहिन्या वसन्ततिलकया—सखि, सन्ध्या-
समयः प्रवृत्तास्तदभ्यन्तरं गच्छाम इति भणिता ।

करतल-धृत-महीतला कथमपि निर्मापित-पद-प्रतिष्ठाना ।

सम-विगुणित-निश्वासा समुत्थिता बाल-हरिणाक्षी ॥ २१ ॥

राजा—जरे मित्र, आज तुमने अपना गोतमत्व दिखला दिया ।

विदूषक—(गर्व के साथ) अच्छा, अब आगे की घटना बतलाइये ?

राजा—इसके बाद महारानी की ताम्बूलकरंकवाहिनी दासी वसन्ततिलका ने उससे कहा—सखि, अब संध्याकाल है इसलिए अब अन्तःपुर में चलें ।

तब बालहरिणी के समान नेत्रोंबाली वह सुन्दरी बड़े कष्टपूर्वक हाथ के तलों से पृथक्की का सहारा लेते हुए और पृथक्की पर अपने पैरों को टिकाते हुए लम्बी साँस लेकर (अपने स्थान से) खड़ी हो गयी ॥ २१ ॥

विदूषकः—इमिणा संठाणेण मुण्डजद्व चिरप्पउत्तो से कामाहि-
संगोत्ति । तदो तदो ।

राजा—अहं तेण प्रसंगेण विसञ्चंतरसंचारे लद्वोआसे अहं पि तीए
णबण-मग्ग-पहिओ संवृत्तो । तह हि—

लडह-कुमुददामदोहरेहिं
सरंग-सुहाणिहि-चंदउज्जलेहिं ।
तह वरतणुए कओ ह्लि ओल्लो
अमदानरहिं कडक्खणिज्जरेहिं ॥ २२ ॥

अनेन संस्थानेन जायते चिरप्रवृत्तोऽस्याः कामाभिषङ्ग इति ।
ततस्ततः । अथ तेन प्रसङ्गेन विषयान्तर-सञ्चारे लब्धावकाशेऽहमपि तस्या
नयनमार्गपथिकः संवृत्तः । तथा हि—

लटभ-कुमुददामदोर्धिः शरतसुधानिधि-चन्द्रिकोज्ज्वलैः । तथा
वरतन्वा कृतोऽस्मि आद्रः अमृतमयैः कटाक्षनिर्झरैः ॥ २२ ॥

विदूषक—उसकी ऐसी स्थिति से ऐसा प्रतीत होता है कि उसका मदन-विकार
इसी प्रकार कई दिनों से चल रहा होगा । अच्छा, तो फिर आगे क्या हुआ ?

राजा—इसी प्रसंग से दूसरे स्थान पर घूमने के बीच थोड़ा अवसर मिलने के
समय ही उसके दृष्टिपथ में मेरा आना हुआ । तब उसी समय उस अनिन्द्य सुन्दरी
ने कमल की माला से दीर्घतर, शारद चन्द्र से उज्ज्वल अमृतमय कटाक्षरूपी
निर्झर से मुझे सिर्क कर दिया ॥ २२ ॥

विदूषकः—अणुवेक्षणिज्जदाए अणुराएण वा दंसणं ति तवक-
णिज्जं एदं ।

राजा—अहं करउलेण पाणिं अथलंविअ सा वसन्ततिलआए ।

अइमंदमंदगमणा ठामाहि तदो मणं चलिआ ॥ २३ ॥

अनुपेक्षणीयतयाऽनुरागेण वा दर्शनमिति तकर्णोयमेतत् ।

अथ करतलेन पाणिमवलम्ब्य सा वसन्ततिलकायाः ।

अतिमन्दमन्दगमना स्थानात् ततो मनाकृ चलिता ॥ २३ ॥

विदूषक—तब तो उसका यह अवलोकन उपेक्षाहीन भाव से या अनुराग के
कारण हुआ है, इस पर विचार करना चाहिए ।

राजा—तब अपने करतल से वसन्ततिलका के हाथों का सहारा लेती हुई वह अतिशय मन्दगति से उस स्थान से कुछ दूर तक जाने लगी ॥ २३ ॥

तर्हि खलु—

परावलिय आणणामअ-मऊह-जुत्तं दिसं
विवजिअ-दिसंतराहिमुह-चक्रवाअत्थणं ।
मण-ठुआ-चिरुचिच्चअ-पणअसारविणणावओ
कओ मझ विलक्खणो सुअणुए कडखखुगमो ॥ २४ ॥

तदानों खलु । परावल्य आननामृतमयूखयुक्तां दिशं विवर्जित-
दिशान्तराभिमुखचक्रवाकस्तनम् । मनःस्थित-चिरोचिच्चत-प्रणयसारविज्ञापकः
कृतो मयि विलक्षणः सुतन्वा कटाक्षोदगमः ॥ २४ ॥

और उसी समय । उस मोहिनी सुन्दरी ने उपयुक्त दिशा में अपने मुखचन्द्र
को घुमाकर और चक्रवाक-से अपने उरोजों को अन्य दिशा में रखते हुए, अपने
अन्तःकरण में चिरकाल से संचित प्रणय के तात्त्विक सार को दर्शनिवाले विलक्षण
कटाक्षों को मुझ पर गिराया ॥ २४ ॥

विद्वषकः—अकण्डमिलिए जणे अवि विणिमिमिं दंसणं
ण पेम्म-गमां मणं अवि अवज्जणिज्जं जदो ।
ठिदे वि विमुहत्तणे वि वलिआणणं पेक्खणं
ण हु प्पणअभंतरा कह वि संकिउं तीरइ ॥ २५ ॥

अकाण्डमिलिते जनेऽपि विनिर्मितं दर्शनं न प्रेमगमकं मनागप्य-
वर्जनीयं यतः । स्थितेऽपि विमुखत्वेऽपि वलिताननं प्रेक्षणं न खलु प्रणय-
मन्तरा कथमपि शङ्खितुं तीर्यते ॥ २५ ॥

विद्वषक—चाहे सहजभाव में अकस्मात् भेट हो जानवाले बधकि के द्वारा
किया गया अबलोकन अति अनुराग का सूचक न भी हो किन्तु वह टालने के योग्य
(या उपेक्षणीय) भी नहीं होता है; तब फिर अपने मुंह को तिरछा घुमाकर और
स्थित होकर देखने में तो बिना अनुराग के अन्य कारण हो ही नहीं सकता ॥ २५ ॥

राजा—तदो वसन्ततिलआसमक्षमं अन्तणो तहाविह-वइअरोवजणेण
देइए णिदेअण-संकाए तीए विष्पलहेण अ जाव द्वूमेमि ताव चिचअ
पाहाइएण तूरसद्वेण पडिबुद्धो हि ।

विदूषकः—इमाए वेलाए पेच्छमो सिविणओ अइ सिगध-परिणामो
होइत्ति मंतंति ।

राजा—णाम चिचअ ण हु णज्जइ तीए देसाइअस्स का वत्ता ।
ण अ कोवि अबभुवाओ तिदिणअमेत्तेण केरिसो लाहो ॥२६॥

ततो वसन्ततिलकासमक्षम् आत्मनो तथाविध-च्यतिकरोपजनेन देव्या
निवेदन-शङ्ख्या तस्याः विप्रलम्भेन च यावद्दुनोमि तावदेव प्राभातिकेन
तूर्यशब्देन प्रतिशुद्धोऽस्मि ।

अस्यां वेलायां प्रेक्षितः स्वप्नकोऽतिशीघ्रपरिणामो भवतीति मन्त्रयन्ते ।
नामैव खलु न ज्ञायते तस्याः देशादिकस्य का वार्ता । न च कोऽप्य-
भ्युपायः स्वप्नकमात्रेण कोदृशो लाभः ॥ २६ ॥

राजा—तब उस वसन्ततिलका के समक्ष ही हो जानेवाले इस प्रसंग को
महारानो की कोई विश्वस्त सेविका न जान ले, इसी आशंका से तथा उसके विरह
के कारण जब मैं खिल्ल होने लगा तभी प्रभातकालीन मंगलवाद्यों की घ्वनि ने मुझे
चरा दिया ।

विदूषक—ऐसा माना गया है कि इस प्रभातवेला मैं देखा गया स्वप्न अपना
फल शीघ्र ही देता है ।

राजा—(जब) मुझे उसके नाम का ही ज्ञान नहीं है तो फिर उसके
(निवासभूत) देश की बात दूर रही । (इस समय) कोई उपाय (ही) नहीं
दिखायी दे रहा है तो फिर ऐसे स्वप्न से क्या लाभ है ॥ २६ ॥

विदूषकः—अत्थमिमि हुविस्सते जाणं जाणं पठोअणं तत्थ ।

ते ते वि.विहिवसादो अत्थयके च्छेअ उअणमंति ॥ २७ ॥

अर्थे भविष्यति येषां येषां प्रयोजनं तत्र । ते तेऽपि विधिवशाद् अर्थेक्ये
एवोपनमन्ति ॥ २७ ॥

विदूपक—जिस-जिस बात या अर्थ का जो उद्देश्य होता है वह दैवयोग से
उसी एक बात को उत्पन्न या पूर्ण करने के लिए (ही) प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

राजा—तीए होउ णवा कहा-अवसरो सा एहु मा एहु वा

णेत्ताणं विसथत्तणं फुरउ वा तीए ण वा संगमो ।

तीआ च्छेअ कए ण अण्णविसए संरजजए माणसं

णीसासा प्पसंरति उण्ह-फरिसा सब्बा तणू डज्जइ ॥ २८ ॥

तस्या भवतु न वा कथावसरा सा एतु मा एतु वा नेत्राणां विषयत्वं
स्फुरतु वा तस्या न वा सङ्घमः । तस्या एव कृते नान्य-विषये संरज्यते मानसं
निश्वासाः प्रसरन्ति उष्णस्पर्शाः सर्वा तनुदंह्यते ॥ २८ ॥

राजा—(मुझे) उसी सुन्दरी के साथ बातचीत का अवसर चाहे मिल जाये
या न मिले, वह (यहाँ) आवे या न आवे, वह मेरी दृष्टि में आवे या न आवे
या उससे मिलन हो या न हो, किन्तु मेरा मन उसी में आसक्त होकर अन्य विषयों
से हट रहा है और उसके विरह में मेरी ये उष्ण उसाँसें चारों ओर फैल रही हैं
जिनसे सारा शरीर जल रहा है ॥ २८ ॥

अविअ—एदर्स्स उज्जाणे चन्द्रमुखी णेत्रगोअरी-हूआ ।

इअ चितिअ अज्ज उणो एत्थ चिच्चअ आअदोहिय उन्माइओ ॥२९॥

अपि च—एतस्मिन्नुद्याने चन्द्रमुखी नेत्रगोचरीभूता । इति चिन्तित्वाद्य
पुनरत्रैवागतोऽस्मि उन्मादितः ॥ २९ ॥

और—(स्वप्न दशा में) इसी उद्यान में वह चन्द्रमुखी मुझे दिखलायी पड़ी
थी, इसलिए उसी बात को विचार कर मैं यहाँ फिर से उन्माद की अवस्था में भी
आया हूँ ॥ २९ ॥

(प्रविश्य वसन्ततिलका)

वसन्ततिलका—जेदु जेदु देओ ।

राजा—(स्वगतं साशङ्कम्) कहं देईए बीसंभभाअणं वसन्ततिलआ ।
मा णाम एवं एदाए सुदं भोदु । अहो एककदेसे सिविणअस्स संवाओ ।
(प्रकाशम्) वसन्ततिलए, कि एत्थ आअमण-प्पओअणं ?

वसन्ततिलका—देअस्स णअण-मगाणुहवादो कि अणं सेवअ-जणस्स ।

विदूषकः—तह वि विसेसो पुच्छोअसि ।

वसन्ततिलका—चिठुदु दाव प्पसंगंतरं ।

राजा—(स्वगतम्) कहं अम्हेहिं उवककंतो अत्थो एदाए वि
उवकिखत्तो ।

विदूषकः—एर्तास्स प्पसंगे उवककंते कबु पसंगंतर-णिसेहो सावआसो ।
ण अ एर्णह च्चेअ आअदाए तुए को वि प्पसंगो उवककंतो चिठुदि ।

वसन्ततिलका—ण हु पुवं पक्कंतो प्पसंगो भए च्चेअ किज्जंतो
अवेक्खीअदि ।

विदूषकः—तदो अम्हेहिं को वा प्पसंगो उवककंतो अत्थ ?

वसन्ततिलका—ण विरहावत्था-पडिवाअणं चेअ ।

विदूषकः—सच्चं प्पणआ-जण-विप्पलंह-दूमि-दूमिज्जंत-हिअअस्स कस्स
वि अवत्था मढुमास-वणणण-प्पसंगेण प्पिअवधअस्सेण वणिणदा ।

वसन्ततिलका—अह कस्स अणस्य अत्तणो णवत्थाए अण-पच्च-
खाजोगत्तणेण तस्स ईरिसावत्थाविरहो तुए कहं विणादो ?

विदूषकः—विरह-आरणस्स अहाव-णिच्चएण ।

वसन्ततिलका—णाइअंतरस्स उण केरिसो अहावणिणओवाओ ।

विदूषकः—अज्ज, णाइअंतरस्स अदंसणेण ।

वसन्त तेलका—एदं पि ण णिणइउं तीरइ ।

विदूषकः—ता कि अविणादे वि अत्थ इच्छा होइ त्ति वत्तुं पउत्तासि ।

वसन्ततिलका—तुमं कि असंणिहिवस्स अत्थस्स पभारंतरेणावि
विणाणं ण होइ त्ति वत्तुकामो सि ।

विद्वषकः—एआरिस-कुतकावलंबणे तुम्हेहि अत्या अणहा करिज्जंति ।

वसन्ततिलका—ता तुमं चेऽपच्चक्खविरुद्धं आलंबंतो महातक्षिकओ ।
विद्वषकः—ता किं प्पमाणमंतरेणा वि अत्थ-कप्पणं तुए अहिमदं ।

वसन्ततिलका—तुए वि किं संतम्भि वि प्पमाणे अत्थावलादो अहिप्पेओ ।

विद्वषकः—तदो तुए उण्णीदे अत्ये किं प्पमाणं ?

वसन्ततिलका—उवण्णत्थ-सद्गो ज्जेअ ।

विद्वषकः—ता भण केरिसो सो ?

(वसन्ततिलका 'तीए होउ णवा' इत्यादि पद्यद्वयं (१. २८. २९) पुनः पठति) ।

गजा—(स्वगतम्) अहो एकवारुच्चारिअगहणसादच्छं ।

विद्वषकः—अणपरदाहिप्पाएण वि तस्स उवदण्णदाए कहं ते अहिमअ-सिद्धो ।

वसन्ततिलका—अणपरदाए प्पमाणविरहादो ।

विद्वषकः—मा अणहा संभावेहि । सच्चं चेऽपि अववभस्सेण कस्स वि अवत्था बणिदा ।

वसन्ततिलका—एआरिस्स सच्चवाइणो तुह अत्तदाणिच्चएण एवं पच्चइसं ।

विद्वषकः—कहं मे अत्तदा-विरहो ?

वसन्ततिलका—पुत्तसिरप्फरिसा जइ अत्ततणमत्तणो ठवेज्ज भवं ।

ता तुह सवह-सएहि अणह अत्थो भवे सच्चो ॥३०॥

जयतु जयतु देवः । कथं देव्याः विस्मभभाजनं वसन्ततिलका । मा नामैनया एतत् श्रुतं भवतु । अहो एकदेशो स्वप्नस्य संवादः । वसन्ततिलके, किम् अत्र आगमन-प्रयोजनम् ?

देवस्य नयनमागांनुभवतः किमन्यत् सेवकजनस्य । तथापि विशेषः पृच्छयसे । तिष्ठतु तावत् प्रसङ्गान्तरम् ।

कथमस्माभिरुपक्रान्तोऽर्थः एतयाऽप्युपक्षिप्तः । एतस्मिन् प्रसङ्गे उपक्रान्ते खलु प्रसंगान्तरनिवेदः सावकाशः । न चेदानीमेवागतायास्तव कोऽपि प्रसंग उपक्रान्तस्तिष्ठति ।

न खलु पूर्वं प्रकान्तः प्रसंगो मयैव क्रियमाण अपेक्ष्यते । तदस्माभिः को वा प्रसंगः उपक्रान्तोऽस्ति ?

ननु विरहावस्थाप्रतिपादनमेव । सत्यं प्रणयजनविप्रलभ्भ-दूयमान-हृदयस्य कस्याप्यवस्था मधुमासवर्णनप्रसङ्गेन प्रियवयस्येन वर्णिता । अथ कस्यान्यस्यात्मनोऽनवस्थायाः अन्यप्रत्यक्षायोग्यत्वेन तस्य ईदृशावस्था-विरहस्त्वया कथं विज्ञातः ?

विरहकारणस्याऽभावनिश्चयेन । नायिकान्तरस्य पुनः कीदृशोऽभाव-निर्णयोपायः । अद्य नायिकान्तरस्यादर्शनेन । एतदपि न निर्णेतुं तीर्यते । तत् किमविज्ञातेऽप्यर्थे इच्छा भवतीति वक्तुं प्रवृत्तासि । त्वं किमसन्नि-हितस्याथर्थस्य प्रकारान्तरेणापि विज्ञानं न भवतीति वक्तुकामोऽसि ।

एतादृशकुत्कार्विलम्बनेन युष्माभिरर्थाः अन्यतः क्रियन्ते । तत् त्वमेव प्रत्यक्षविरुद्धमालम्बमानो महातार्किकः । तत् किं प्रमाणमन्तरेणापि अर्थ-कल्पनं तवाभिमतम् । त्वयाऽपि किं सत्यपि प्रमाणे अर्थपिलापोऽभिप्रेतः । ततस्तव उन्नीतेऽर्थे किं प्रमाणम् ? उपन्यस्तशब्द एव । तद् भण कीदृशः सः ।

अहो एकवारोच्चारितग्रहणसामर्थ्यम् । अन्यपरताभिप्रायेणापि तस्योपपन्नतया कथं तेऽभिमतसिद्धिः । अन्यपरतायाः प्रमाणविरहात् । मा अन्यथा सम्भावय । सत्यमेव प्रियवयस्येन कस्याप्यवस्था वर्णिता । एतादृशस्य सत्यवादिनस्तवासतानिश्चयेनैवं प्रत्येष्यामि । कथं मे आसताविरहः ।

पुत्रशिरःस्पर्शाद् यदि आसत्वमात्मनः स्थापयेत् भवान् । तस्य तव शपथशतेरन्यथार्थो भवेत् सत्यः ॥ ३० ॥

(वसन्ततिलका का प्रवेश)

वसन्ततिलका—(प्रवेश करती हुई) महाराज की जय हो ।

राजा—(स्वगत । आशंकित होकर) अरे ! यह तो महारानी की विश्वस्त-

सेविका वसन्ततिलका है । इसने कहीं हमारी यह बात सुन तो नहीं ली । आश्र्यं तो यह है कि मेरे स्वप्न के एक भाग को समानता मिल चुकी । (प्रकाश) वसन्ततिलका, तुम यहाँ किस लिए आयी हो ?

वसन्ततिलका—हम सेवकजनों के लिए महाराज के दृष्टिमार्ग में आते रहने के अलावा अन्य क्या कार्य हो सकता है !

विदूषक—पर इस विषय में महाराज तुम्हें विशेष बात पूछ रहे हैं ।

वसन्ततिलका—अभी किसी अन्य या विशेष बात को रहने दीजिये ।

राजा—(स्वगत) हमने जो बात चलायी थी वही बात कहीं यह तो नहीं चलानेवाली है ।

विदूषक—अच्छा ! किसी एक प्रसंग के चलते रहने पर दूसरा प्रसंग साव-काश रहता है यह तो होता है । पर तू तो अभी-अभी ही आयी है तो फिर तुम्हारी दृष्टि में कौन-सा प्रसंग आरम्भ होकर विद्यमान है (जिसे रहने दिया जाय) ।

वसन्ततिलका—जो प्रसंग पहले से ही चल रहा हो उसे मैंने ही आरम्भ किया हो यह बात भी तो नहीं हो सकती ।

विदूषक—अच्छा, जरा बतलाओ कि हमने किस प्रसंग को अभी चला रखा है ।

वसन्ततिलका—विरह में होनेवाली अवस्था का प्रतिपादन या वर्णन करना ।

विदूषक—अच्छा ठीक है । मेरे प्रिय मित्र ने वसन्त ऋतु के वर्णन के प्रसंग में प्रियजन के विरह से व्यथित हुवयवाले किसी व्यक्ति की अवस्था का वर्णन किया था ।

वसन्ततिलका—जब किसी एक को वैसी अपनी अवस्था के न होने के कारण दूसरे के आन्तर या मनोभावों का प्रत्यक्ष नहीं होता तो फिर दूसरे की विरहा-वस्था का भाव आपको कैसे हो जाएगा ?

विदूषक—विरह के कारण के न रहने के निश्चय से ही ।

वसन्ततिलका—अन्य नायिका के अभाव का निश्चय किस साधन से होता है ?

विदूषक—आज जब अन्य नायिका का अभाव या न दिखलायी देना न हो तो ।

वसन्ततिलका—इसे देखकर निर्णय कर लेना सम्भव नहीं ।

विदूषक—तो फिर तुम यह कहना चाहती हो कि इच्छा किसी अज्ञात विषय में होती है ।

वसन्ततिलका—और आप भी यह कहना चाहेंगे कि समीपवर्ती वस्तु का किसी अन्य मार्ग से भी ज्ञान नहीं होता ।

विदूषक—ऐसे कुतर्क से तुम अपने पदार्थ (या विषय) को अन्यथा (या अपने स्वरूप के विपरीत) बना रही हो ।

वसन्ततिलका—और आप भी तो प्रत्यक्ष से विपरीत अर्थ का सहारा लेकर महातार्किक बन रहे हैं ।

विदूषक—विना प्रमाण के किसी पदार्थ की कल्पना करना आपको मान्य होगा ।

वसन्ततिलका—और प्रमाण के रहने पर भी किसी पदार्थ के अपलाप (या दबाने) की बात आप करना चाहते हैं ।

विदूषक—अच्छा आपने जिस वस्तु का अनुमान किया उसमें प्रमाण क्या है ।

वसन्ततिलका—आपके द्वारा कहा हुआ वचन या शब्दावली ही ।

विदूषक—अच्छा तो उन शब्दों को ही बोलो ।

(वसन्ततिलका ११२८ तथा ११२९ पद्य को फिर से कह मुनाती है ।)

राजा—(स्वगत) ओह ! एक बार ही कहे गये वचनों को याद रखने की इसमें अपूर्व क्षमता है ।

विदूषक—अच्छा ! यदि इस वर्णन का तात्पर्य किसी दूसरे ही प्रसंग से हो तो फिर आपकी इट्सिद्धि इसी से कैसे बन सकती है ।

वसन्ततिलका—यहाँ दूसरे प्रसंग के रहने में कोई प्रमाण नहीं रहने के कारण ।

विदूषक—इस प्रसंग पर अन्यथा या निराधार कल्पना करने की सम्भावना ही नहीं है । हाँ, यह सत्य है कि मेरे मित्र ने किसी की प्रणय-दशा का यह वर्णन अवश्य किया है ।

वसन्ततिलका—क्या मैं आप जैसे सत्यवादी पुरुष के द्वारा कहे जाने मात्र से ही प्रसंग को निश्चित कर लूँ कि यही आप्तवचन है ।

विद्वपक—मेरे कथन में आसता का अभाव क्यों कर हो सकता है ।

वसन्ततिलका—यदि आप अपनी आसवादिता को सिद्ध करने के लिए अपने पुत्र का मस्तक भी छू लें तो मात्र इतने से और अपने द्वारा ली गयी संकड़ों शपथों से जो पदार्थ अन्यथा हो उसे सत्य नहीं बनाया जा सकेगा ॥ ३० ॥

राजा—(स्वगतम्) दृढ़अरं खलु अं अत्थो एदाए हिअए अहिणि-विठ्ठो । ता एदस्स वाआमेत्तेण वर्णणं अणहिणजणसाहारणं । णिवेदणे उण एककदेससंवाऽ-दरिसणेण कहं पि अणुऊलदा वि एत्थ संभाविदा । ता एदाए णिवेदेमि भूतार्थं । (प्रकाशम्) वसन्ततिलए, अज्ज सिविणए अउव्वगुणसोहिरी का वि णाइआ मए आलोइदा । तीए प्पसंगेण अबं चुतंतो उवक्कंतो आसी ।

वसन्ततिलका—(स्वगतम्) अवि णाम प्पिअसही तिगारमंजरी च्चेअ सा भवे । (प्रकाशम्)

देआस्स हिअअ-हरणं तीए साहेइ रूअसोहर्गं ।

सविहेस-दंसणं उण परिहरिअ ण णिणओ होइ ॥ ३१ ॥

दृढ़तरं खल्वयमर्थः एतस्या हृदयेऽभिनिविष्टः । तदेतस्य वाङ्मात्रेण वर्णनमनभिज्ञ-जनसाधारणम् । निवेदने पुनः एकदेशसंवाददर्शनेन कथमप्य-नुकूलताप्यत्र संभाविता । तद एतस्य निवेदयामि भूतार्थम् । वसन्ततिलके, अद्य स्वप्ने अपूर्वगुणगणशोभनशीला काऽपि नायिका मया आलोकिता । तस्याः प्रसङ्गेनायं वृत्तान्तः उपक्रान्तः आसोत् ।

अपि नाम प्रियसखी शृङ्गारमञ्जर्येव सा भवेत् । देवस्य हृदयहरणं तस्याः साधयति रूप-सौभाग्यम् । सविशेषदर्शनं पुनः परिहत्य न निर्णयो भवति ॥ ३१ ॥

राजा—(स्वगत) इसके मन में अपनी ही बात मजबूती से जम चुकी है इसलिए इसका शाब्दिक वर्णन करना सामान्य स्थिति से अधिक कुछ न होगा ।

और इसके निवेदन में अपने देखे गये स्वप्न के एक भाग की दैसी ही (समान) स्थिति मिलने के कारण आगे भी अनुकूल स्थिति बन सकेगी। इसलिए इसे मैं सही बात ही बतला देता हूँ। (प्रकाश) वसन्ततिलका, आज मैंने स्वप्न में एक किसी नायिका-सी अपूर्वसौदर्यशालिनी परमसुन्दरी को देखा था। उसी के विषय में यहाँ प्रसंग चल रहा था।

वसन्ततिलका—(स्वगत) कथा यह नायिका प्रियसखी शृङ्गारमञ्जरी ही तो नहीं (प्रकाश) महाराज, यह सत्य है कि उस नायिका के रूप, लावण्य आदि ने आपका हृदय चुरा लिया होगा, परन्तु जब तक आप उसके विशेष रूप का वर्णन न करें तो फिर यह निर्णय कैसे होगा कि वह कौन है। ॥ ३१ ॥

राजा—ता चित्ते आलिहिअ दावइसं। चित्तोवअरणा इ दाव आणीअदु ।

वसन्ततिलका—जं देवो आणवेदि। (इति निष्क्रम्य चित्रोपकरण-न्यादाय प्रविश्य समर्पयति)।

राजा—(गृहीत्वा)।

तीए जहावि विसेसो हिअएण वि तीरए ण संभरिउँ।

तह वि जहाविणाणं विलिहिअ दावेमि तुम्हाणं ॥ ३२ ॥

(इति लेखितुमारभते)

तत् चित्रे आलिख्य दर्शयिष्यामि। चित्रोपकरणानि तावद् आनयतु।
यद्देवः आज्ञापयति।

तस्याः यद्यपि विशेषः हृदयेन तीर्यते न सम्भतुंम्। तथापि यथा-
विज्ञानं विलिख्य दर्शयामि युष्माकम् ॥ ३२ ॥

राजा—तो मैं उसका ठीक चित्र बनाकर ही तुम्हें दिखला देता हूँ। तुम चित्र की निर्माण-सामग्री तो लाओ।

वसन्ततिलका—जैसी महाराज की आज्ञा। (चली जाती है और चित्रफलक तथा अन्य साहित्य लेकर उन्हें महाराज को दे देती है)

राजा—(सामग्री लेकर) यद्यपि उस नायिका के सौन्दर्य की समग्र विशेषता की हृदय के अनुरूप (चित्र में) पूर्ति होना सम्भव नहीं है, फिर भी अपने कला-

ज्ञान के अनुरूप उसका चित्र में (पूर्व दृष्टि) स्वरूप चित्रित कर दिखलाता है । ॥ ३२ ॥

(चित्र को बनाने लगता है) ।

वसन्ततिलका—(स्वगतम्) ।

सिंगारमंजरीए देओ हियअस्स बंधणद्वाणं ।

जइ देवस्स वि सच्चब तदो जिदं से गुणगणेहि ॥ ३३ ॥

शृङ्गारमञ्जर्याः देवः हृदयस्य वन्धनस्थानम् । यदि देवस्य अपि सा एव ततो जितमस्या गुणगणः ॥ ३३ ॥

वसन्ततिलका—(स्वगत) ये महाराज ही शृंगारमञ्जरी के हृदय के अनुराग-भाजन हैं और फिर जब महाराज के भी हृदय का अवलम्बन यही शृंगारमञ्जरी होती हो तो फिर-फिर उसी के गुणों की विजय हो गयी ॥ ३३ ॥

राजा—सअले वि मए पअथ्य-जाए

दइआ दीसदि भावणोवणीदा ।

विलिहिज्जइ सा उणो कहं वा

ण हु एवं लिहिअं ण वत्ति दुद्धी ॥ ३४ ॥

सकलेऽपि मया पदार्थजाते दयिता दृश्यते भावनोपनीता । विलिख्यते सा पुनः कथं वा न खल्वेतलिलखितं न वेति बुद्धिः ॥ ३४ ॥

राजा—(स्वगत) आज मुझे सभी पदार्थों में अपनी आन्तरिक भावना से उपस्थिति प्रिया ही दिखलायी दे रही है, तो फिर ऐसी प्रिया का चित्र में आलेखन कैसे किया जाए । यह ठीक है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि चित्र में ठीक से वह चित्रित भी हो सकेगी या नहीं ॥ ३४ ॥

अविअ—बाहुज्जरो वि लिहिअं लिहिअं ज रेहं

आपुंसइ क्षलइ ताइ मणं भरतं ।

णो लेहणी परम-वेविर-अंसुलिम्मि

पाणिम्मि ठाइ कहमेत्य अ किं लिहिस्तं ॥ ३५ ॥

तह वि आढतो हिं । (इति लिखित्वा दर्शयति)

अपि च—बाष्पोत्क्षरोऽपि लिखितं लिखितं यद्रेखाम् आप्रोच्छति स्खलति तया मनः भरत् । नो लेखनी परमवेपनशीलाङ्गुलौ पाणौ तिष्ठति कथमन्न च किं लेखिष्यामि ॥ ३५ ॥ तथाप्यारधोऽस्मि ।

तथा—अनुरगवश आँखों से निकलनेवाले अश्रुओं का प्रवाह चित्र की रेखाओं को मिटाता है और इसमें मेरा मन भरकर लड़खड़ाने लगता है । इसी कारण हाथों में कंपन के कारण अँगुलियों में तूलिका ठीक से न टिकने के कारण मैं क्या और कैसे चित्र का आलेखन कर सकता हूँ ॥ ३५ ॥

परन्तु फिर भी अपने कार्य को शुरू रखे हुए हूँ ।

(चित्र बनाकर दिखलाता है) ।

वसन्ततिलका—(विलोक्य स्वगतं सानन्दम्) दिहिआ पिपअसहीए सिंगारमंजरीए इमस्तिं अणुराओ संभावित विसग्लाहो संवृत्तो । तह हि—

एदं तं चित्र पुण्ण-साराम-सुआ धाराहिरामं मुहं
णेत्ताइं विअसंत-उप्पल-दलाआराइं ताइं चित्र ।

एते वारणराजकुंभ-सुहवा ते च्चे अ वक्षोरुहा
एसा स चित्र दीसइ तणुलवा सुंदेर-कदुबभवा ॥ ३६ ॥

दिष्टच्छा प्रियसरुपा. शृङ्गारमञ्जर्याः अस्मिन्ननुरागः सम्भाव्य विषय-
लाभः संवृत्तः । तथाहि—एतत्तदेव पूर्णशारदसुधाधाराभिरामं मुखं नेत्रे
विकसदुत्पलदलाकारे ते एव । एतौ वारणराजकुम्भसुभगौ तावेव वक्षोरुहौ
एषा सैव दृश्यते तनुलता सौन्दर्यकन्दोद्भवा ॥ ३६ ॥

वसन्ततिलका—(देखती हुई स्वगत । प्रसन्न होकर) अरे ! यह तो और
भी अच्छा ही रहा कि प्रियसखी शृङ्गारमञ्जरी का जिस पर पूर्व में ही अनुराग
हो चुका था, ऐसा समझने पर तो यह बात और भी लाभ देनेवाली ही हो गयी
है । क्योंकि इस चित्र में अंकित शारदचन्द्र के समान सुन्दर मुख तो उसी (सखी)
का ही है और वैसे ही विकसित कमलों के आकारवाले वे नेत्र (भी) हैं, इसके वैसे
ही मत्त गजराज के कुम्भ के सदृश उरोज भी है और सौन्दर्य के आलवाल में
उद्भूत वही उसकी देहलता भी (इस चित्र में) दिखायी दे रही है ॥ ३६ ॥

(प्रकाशम्)

जइ होइ ण ईरिसी इमीए अहि-देहं सुहअत्तणस्स देहा ।
ण कुदो वि तदो ठिबी इमीए उवबण्णा यि हुहोज्ज देअचित्ते ॥ ३७ ॥

(इतिएतं इलोकं लिखति)

यदि भवति नेदृश्यस्याः अधिदेहं सुभगत्वस्य रेखा । न कुतोऽपि
ततःस्थितिरस्या उपन्नाऽपि खलु भवेत् देवचित्ते ॥ ३७ ॥

(प्रकाश) यदि इसके शरीर पर ऐसी सौन्दर्य की रेखा न होती तो महाराज के हूदय में स्थान मिलना किसी अन्य कारण से कैसे बन सकता था ॥ ३७ ॥

(ऐसा कहती हुई यह पद्म (चित्र के नीचे) लिख देती है ।)

आणाए विहिणो पइष्ण-णअणा से से दिहाणं मुहे
आलोअं तुह पंजरंतरठिआ एळकं चओरी गआ ।
बीआवेकखणकंखिरीण विसओ सा चंदविहु अदे
पासाअंतरहं भअ च्चअ दसं णिष्पच्छिमं पाइइ ॥ ३८ ॥

आज्ञया विधे: प्रकीर्णनयना (?) अस्याः अस्याः दिशां मुखे आलोकं
तत्र पञ्जरान्तरस्थिता एका चकोरी गता । द्वितीयावेक्षणकांक्षिणीनां न
विषयः सा चन्द्रदृष्टिश्च ते प्रासादान्तररुद्धैव दशां निष्पश्चिमां प्राप्नोति ॥ ३८ ॥

उन-उन दिशाओं में दृष्टि डालने पर विधि की आज्ञा के कारण नेत्रों को
उन्मीलित की हुई और पिंजरे में स्थित एक चकोरी आपकी दृष्टि में आयी । वही
आपकी चन्द्र रूपी दृष्टि अब दूसरों के देखने की (अपनी) अभिलापा का लक्ष्य न
बना पाने के कारण प्रासाद में ही बन्द हो अपनी समाप्ति की दशा को प्राप्त
कर रही है ॥ ३८ ॥

राजा—(वाचयित्वा) वसन्ततिलए, कि एवं त्ति णाउं इच्छामो ।

वसन्ततिलका—अप्पविसज्जाणुराम-रहिअ-णाभाणुरत्त-परतंत-णाइआ
बुत्तंत-गमओ अबं सिलोओ पिअसहीए सिंगारमंजरीए णिम्मिओ ।

राजा—अत्तणो परस्स वा अहिप्पाएण ?

वसन्ततिलका—एं गहिदत्थो ज्जेव्व देव्वो अत्तणो कइत्तणे अज्ज गोअमेण सह मह संवाअस्स ।

राजा—एत्थ लिहणस्स उण को अहिप्पाओ ?

वसन्ततिलका—कज्जकारणभाओ च्चेअ ।

राजा—कि एसा ते पिपअसही ?

वसन्ततिलका—एवं जह देवो वणेदि । अधि अ-
तुह दंसणसंदीचिअ-मम्मह-दहणेण जालिअंगीए ।
तोए अं सिलोओ देअं चिअ उह्हासअ गोओ ॥३९॥
एत्तिअमेत्तफलओ अ मे एत्थ आथमणप्पआसो ।

वसन्ततिलके, किमेतदिति ज्ञातुमिच्छामः । आत्मविषयानुरागरहित-
नायकानुरक्त-परतन्त्रनायिकावृत्तान्तगमकोऽयं श्लोकः प्रियसख्या शृङ्गार-
मञ्जर्या निर्मितः । आत्मनो परस्य वाऽभिप्रायेण ।

ननु गृहीतार्थं एवः देवः आत्मनः कवित्वे आर्यगौतमेन सह मम
संवादस्य । अत्र लेखनस्य पुनः कांऽभिप्रायः ? कायंकारणभाव एव ।

किमेषा ते प्रियसखी । एवं यथा देवो वर्णयति । अपि च—तव दर्शन-
सन्दोपितमन्मथदहनेन ज्वालिताञ्ज्याः तयाऽयं श्लोकः देवमेवोद्दिश्य
गीतः ॥ ३९ ॥ एतावन्मात्रफलकश्च मेऽत्रागमनप्रयासः ।

राजा—(पद्म को पढ़कर) वसन्ततिलका, यह बात मुझे ठीक से जानना है ।

वसन्ततिलका—जिसे स्वयं अपने इष्ट प्रिय का अनुराग नहीं मिला उसी पर
अनुरक्त रहनेवाली नायिका की दशा को दिखलानेवाला यह पद्म मेरी ही प्रिय
सखी शृङ्गारमञ्जरी ने बनाया है ।

राजा—क्या उसने उसे अपनी ही स्थिति को या किसी अन्य की दशा को
देखकर बनाया है ?

वसन्ततिलकः—महाराज ने अपने कवित्व के विषय में आर्य-गौतम के
साथ होनेवाली बात से आपने इस विषय की सभी बात जान ही ली है ।

राजा—(फिर) इस पद्म को यहाँ लिखने का क्या प्रयोजन है ?

वसन्ततिलका—(यहाँ) कार्य-कारण भाव ही तो है ।

राजा—क्या यही तुम्हारी प्रिय सखी है ।

वसन्ततिलका—जैसा महाराज ने कहा वही बात है । और उसी ने आपके दशन से प्रज्वलित होनेवाले मदनरूपी अनल के दाह से अपने अंगों को छाते हुए इस पद्म की महाराज को ही लक्ष्य बनाकर रचना की है ॥ ३९ ॥

और इसी उद्देश्य से मेरा यहाँ आने का कार्य भी था ।

राजा—ता जुत्तं अन्हेहि एदेण प्पसंगेण किं चि कालं आससितं ।

वसन्ततिलका—तदो क्खु आणवेदु देवो जाव एदं पर्वत्ति पिअसहीए णिवेदेमि ।

राजा—भोदु । ण क्खु णिसिद्धुत्थाणं को चि संदेसो जंपणिञ्जो ।

(नेपथ्ये)

जूडे मुच्के भमणसिर्डलीहूअ-णाइददाए
जस्सिं पिंगं चिलसइ जडामंडलं चिप्पइणं ।
भालुहे सोदिअ-सिहि-समुत्थं व जाला-कअंबं ॥
संझा-णच्चं तिउर-रिउणो होउ तं वो सिरीए ॥४०॥

(इति निष्कान्ताः सर्वे)

॥ इति प्रथमं यवनिकान्तरम् ॥

तद्यक्तमस्माभिरेतेन प्रसङ्गेन कमपि कालमाश्वासितुम् । तत् खल्वा-
ज्ञापयतु देवो यावदेतां प्रवृत्ति प्रियसर्थै निवेदयामि । भवतु न खलु
निसृष्टार्थानां कोऽपि सन्देशो जल्पनीयः ।

जूटे मुक्ते भ्रमण-शिथिलीभूतनागेन्द्रतया यस्मिन् पिङ्गंचिलसति जटा-
मण्डलं विप्रकीर्णम् । भालोद्देशोदितशिखिसमुत्थमिव ज्वालाकदम्बं सन्ध्या-
नृत्यं त्रिपुररिपोः भवतु तद्वः श्रियै ॥ ४० ॥ इति प्रथमं यवनिकान्तरम् ।

राजा—तो फिर इतनी बात के हो जाने से अब हमें कुछ समय धैर्य से आश्वस्त होकर रहना ही ठीक दिखता है ।

वसन्ततिलका—अच्छा तो अब महाराज मुझे जाने की आज्ञा दें जिससे जाकर यह समाचार अपनी प्रियसखी को बतला दूँ ।

राजा—अच्छा ठोक है । निसृष्टार्थ व्यक्ति को कोई सन्देश नहीं कहा जाता है ।

(नेपथ्य में)

जटाओं की भारी ग्रन्थियों के छूट जाने पर और भ्रमण के कारण कंठ में स्थित नागेन्द्र के शिथिल पड़ जाने से ललाट पर फैला हुआ पिंग वर्ण का जटामंडल ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानो ललाटस्थित तृतीय नेत्र से उत्पन्न अग्नि की ज्वालाएँ हों । भगवान् त्रिपुरारि का ऐसा ही सान्ध्य नृत्य आपको श्री-प्राप्ति करवानेवाला हो ॥ ४० ॥ (सभी जाते हैं) ।

प्रथम यवनिकान्तर समाप्त ।

द्वितीयं यवनिकान्तरम् ।

(ततः प्रविशति राजा विदूषकश्च)

राजा—(चित्रफलकं विवृत्य निरुप्य) वअस्त्स,

जो तीए अवअवआण सण्णिवेसो

ओइण्णो कह विअ चित्पट्टै सो ।

णेत्ताणं मअण-विआर-घुम्मिराणं

विच्छित्ती उण अणुहूइ-मेत्त-गेज्हा ॥ १ ॥

यस्तस्या अवयवानां सन्निवेशोऽवतीर्णः कथमिव चित्रपट्टके सः ।
नेत्राणां मदनविकारघूर्णितानां विच्छित्तः पुनरनुभूतिमात्रग्राह्या ॥ १ ॥

राजा—(चित्रफलक को पलटकर देखते हुए) प्रियमित्र, उस (नायिका)
के सुकोमल अंगों का जो सन्निवेश है उसे (मैंने) इस चित्रपट पर अंकित कर
दिया है, किन्तु यहाँ मदनविकार के कारण निरन्तर घूमने वाले नेत्रों का विलास
तो अनुभूति से ही जाना जा सकता है ॥ १ ॥

विदूषकः— इत्थीआण विमुद्रिओ मअभरो तं बहाणो चारदा-
णिम्माणे णिउणत्तं परिणां तारुणमधुणां ।

अच्चंतोच्छलिअं विलासललिअं बद्धं विअड्डत्तणं

बीसंता कुसुमेसुणो धणुलदा एदाए णिष्पत्तिए ॥ २ ॥

स्त्रीणां विमुद्रितो मदभरस्तद ब्रह्मणश्चारुता निर्माणे निपुणत्वं
परिणतं तारुण्यमभ्युन्नतम् । अत्यन्तोच्छलिकं विकासललितं वृद्धं
विदग्धत्वं विश्वान्ता कुसुमेषोः धनुलता एतस्याः निष्पत्त्या ॥ २ ॥

विदूषक— इसके निर्माण द्वारा स्त्रियों के मदजन्य भार को मुद्रित कर दिया
गया है, ब्रह्मदेव के सौन्दर्य-निर्माण का कोशल अतिशय वृद्धि प्राप्त कर चुका है,
तारुण्य परमोन्नत स्थान पर आसीन हो चुका है, सुन्दर लगने वाले वैदर्घ्य की
अतिशय समुच्छलित विलासों से और भी वृद्धि हो गयी है तथा अब मदन की
कोमल धनुरुत्ता को विश्वाम मिल गया है ॥ २ ॥

राजा—(तामनुसन्धाय)

गंडत्थली करतले पलहत्था विरह-पंडु-पव्वाआ ।

सरअ-णिदाह मिलाणा केअब-दोण व्व पछिहाइ ॥ ३ ॥

**गण्डस्थली करतले पर्यस्ता विरहपाण्डुप्रम्लाना (?) । शरद-
निदाघम्लाना केतकद्रोणीव प्रतिभाति ॥ ३ ॥**

**राजा—(उसी पर दृष्टि टिकाते हुए) अपनी हथेली के सहारे टिकाया
गया कपोल—जो विरहजन्य पाण्डुता से म्लान है—ऐसा लग रहा है जैसे शरद-
ऋतु में उष्णता से म्लान हो जाने वाला केतकी का द्रोण हो ॥ ३ ॥**

विदूषकः—तुह षेच्छणेण सहसा व्वुंतो मम्महुआसो ।

देहलदिवाए तीए कि कअवंतोत्ति ण भुणामो ॥ ४ ॥

**तव प्रेक्षणेन सहसा वर्धमानो मन्मथहुताशः । देहलतिका तस्याः कि
कृतवानिति न जानामः ॥ ४ ॥**

**विदूषक—उसकी देहरूप कोमल लता को तुम्हारे दर्शन से सहसा भड़क
उठने वाली कामागिन ने कैसा कर डाला यह तो ज्ञात हो नहीं होता ॥ ४ ॥**

राजा—वअस्स, कि ण णज्जइ, उज्जुओं दाव इदो पेक्ख ।

कंचण-केदइ-पल्लअ सुहअ-सहावा अमीअ तणु-लट्ठी ।

घणसार-रअ-विणिमिमअ-धूसर-भावं व बाहिरे फुरइ ॥ ५ ॥

**वयस्य, कि न ज्ञायते । ऋजुकं तावदितो पश्य—काङ्क्षनकेतकीपल्लव-
सुभगस्वभावा अस्याश्च तनुर्याइः घणसार-रजो-विनिमितधूसरभावमिव
बहिः स्फुरति ॥ ५ ॥**

**राजा—अरे मित्र, क्या इसे भी नहीं समझते हो । यह तो बड़ा ही सरल
है । इसे इस प्रकार देखो—सुवर्ण-केतकी के पत्र-जैसी देहवाली इस सुन्दरी का
स्वरूप कर्पूरपराग से होने वाले धूसर भाव को बाहर से दर्शा रहा है ॥ ५ ॥**

**अवि अ । एत्थ लिहिएण कइत्तणेण अत्तणो अवत्था कि ण कहिआ
पिअतमाए ।**

विदूषकः—वअस्स,

तुम्हे वंकविवोहा जाणव अंतरगां भावं ।
आम्हे जहा-सुह चिच्छ जाणीमो उज्जुअ-सहावा ॥ ६ ॥

अपि च अत्र लिखितेन कवित्वेनात्पनोऽवस्था किं न कथिना प्रियत-
माया ।

वयस्य ! यूँ वक्रविवोधा जानीथान्तर्गतं भावम् । वय यथाथुनमेव
च जानीमो ऋजुकस्वभावाः ॥ ६ ॥

और फिर इसी स्थान पर अंकित पद्य से प्रियतमा ने वय अपनी अवस्था
नहीं बतलायी ।

विद्वापक—मित्र, आप वक्रोक्ति के पण्डित हो इसी कारण आन्तरिक भावों
का समझ लेने में आप सश्नम हैं परन्तु हम तो जैसा सुनते हैं वैसा ही सहज-
स्वभाव वाले होकर शब्द का अर्थ समझते हैं ॥ ६ ॥

राजा—ता सुणोअदु कइत्तणाहिप्पाओ—

पाणेसेण अ दंसणो ण ण समासंघस्स लेनुव्वभवो
सो दिद्धो उण अत्तणत्ति परमो कामा हुओ अग्गहो ।
स वच्छंदत्तणमस्थि ण त्ति ण भवे तत्य पउत्ति परा
तेण अत्थवसेण पञ्जवसिणो पाणप्पहाणं गइ ॥ ७ ॥

तत् श्रूपतां कवित्वाभिप्रायः ।

प्राणेशेन च दर्शनं न न समाश्वासस्य लेशोऽद्वः स हष्टः पुनरात्मनः
ऽति परमः कामाधिक आग्रहः । स्वच्छन्दत्वमस्ति न वेति न भवेत तत्र
प्रवृत्तिः परा तेनार्थवशेन पर्यवसिता प्राणप्रदायाः गतिः ॥ ७ ॥

राजा—अच्छा ! तो इस कविता का आशय भी मुन लोजिए—न तो प्राणेश
के दर्शन हो पाये और न हो किसी आश्वासन की लेशमात्र उत्पत्ति हुई । पर
जब वह दिखलायी दिया तो यह ‘आत्मीय ही है’ इन प्रकार का अतिशय उत्कण्ठा
से पूर्ण आग्रह भी हुआ । यह मात्र स्वेच्छावृत्ति नहीं ऐसा मानकर उस विषय में
आत्यन्तिक प्रवृत्ति बन नहीं सकती और इसी अर्थवशता के कारण प्राणों को
अवस्था समाप्ति की ओर चली जा रही है ॥ ७ ॥

विद्वापकः—भो अच्छरियं, जेग अंतेउर द्विदा वि ण देवस्स णअण-
पह-गामिणो संबुत्ता ।

राजा—तीए महाभूआ-विलक्षण-रुआ-राईंस
 संपेविक्षण अणुराआ-विसंकिरीए ।
 देवीअ अन्ह णवणाण जुअस्स मग्गा
 रविक्षज्जइ पिअभामा परमावरेण ॥ ८ ॥

भोः आइचर्यंम्, येनान्तःपुरस्थिताऽपि न देवस्य नयनपथगामिनी
 संवृत्ता । तस्याः महाङ्गुतविलक्षणरूपराशि सम्प्रेक्षय अनुरागविशङ्कन-
 शीलया (विशङ्कन्या) । देव्या अस्माकं नयनयोर्युगस्य मार्गात् रक्षण्यते
 प्रियतमा परमादरेण ॥ ८ ॥

विदूषक—अरे ! यह बड़े ही आश्चर्य की बात हुई कि अन्तःपुर में रहकर
 मी यह अभी तक महाराज को दृष्टि में नहीं आयी ।

राजा—इसके अतिशय अङ्गुत एवं विलक्षण सौन्दर्य को देखकर महारानी
 ने मेरे द्वारा इस पर प्रेम हो जाने की आशंका से शंकित होकर ही बड़ी
 सावधानी से मेरे दर्शन के मार्ग से इसे हटाकर रखा है (यही इसका कारण
 हो सकता है) ॥ ८ ॥

विदूषकः—भो वबस्स, ताए समं तुह संबंधे बुत्ते वि कि देवीए
 हीअदि जेण एव्वं वराई सिंगारमंजरी आआसीअदि ।

राजा—कि अज्जवि एदं तुए ण समाअणिदं—

विज्जंति एथ लोए महिलाण जेत्तिआइ दुक्खाइ ।
 ताइ सवत्ति-समुद्भव-दुक्खादो णवर हिज्जंति ॥ ९ ॥

भो वयस्य, तथा समं तव सम्बन्धे बृत्तेऽपि कि देव्या हीयते येनैव
 वराकी शृङ्गारमञ्जरी आयस्यते । किमद्याप्येतत् त्वया न समाकणितम्—
 विद्यन्तेऽत्र लोके महिलानां यावन्ति दुःखानि ।
 तानि सप्तनीसमुद्भवदुःखात् केवलं हीयन्ते ॥ ९ ॥

विदूषक—मित्र, यदि आपका इस सुन्दरी से प्रणय होता है तो इससे महा-
 रानी की क्या हानि हो गयी कि इसी कारण इस बेचारी शृंगारमञ्जरी को इस
 प्रकार त्रास दिया जा रहा है ।

राजा—अरे ! क्या तुमने यह बात आज तक नहीं सुनी—कि इस संसार

में महिलाओं को जितने प्रकार के कष्ट हो सकते हैं उनमें सपत्नी के होने से होने वाले दुःख से सभी कष्ट कम ही माने जाते हैं ॥ ९ ॥

विद्वषकः—वअस्स, एतिअकालपज्जंतं अणुरागस्स एकमेत्त-णिदुदाए
तुम्हाणं समाअमे अणिपकुणो वि एर्णिंह उहग्राणं पगविअंभणेण ण तत्थ
का वि विलंबो दीसइ ।

राजा—अच्छउ णाम समस्मह-अणोणण भुआवऊहणसुहेल्ली ।

विसओ विलोअणाणं भवे मअचिछ त्ति दुल्लहं जाअं ॥ १० ॥

वयस्य, एतावत्काल यर्यन्तमनुरागस्यैकमात्रनिष्ठतया युष्माकं समागमेऽ
निष्ठन्नेऽपोदानोमुभयोः प्रणयविजृम्भणेन न तत्र कोऽपि विश्वः दृश्यते ।

आस्तां नाम समन्मथान्योन्यभु ऊपगूहनमुक्तकेलिः ।

विषयो विलोचनयोः भवेत् मृगाक्षीति दुलभ जातम् ॥ १० ॥

विद्वपक—मिथ, अनुराग के एक ओर रहने के कारण हाँ तुम्हारी अभी तक इससे भैः नहीं हुईं पर जब दोनों ओर अनुराग बढ़कर प्रकट होने लगे तो अब मिलन में मुझे विलम्ब दिखलायी नहीं दे रहा है ।

राजा—अरे ! जब उस मृगनयनी का दर्शन भी कठिन हो रहा है तो फिर अनुरागपूर्ण भुजाओं के पारस्परिक मिलने से होने वाले सुख की बात करना दूर हो है ॥ १० ॥

विद्वषकः—इदो वि किं ण ते आसंघो । ('अत्थस्मि हृविस्संते' (१.२७) इत्यादि पुनः पठति)

राजा—जहवि दिदुपरिहारेण अदिदुमेत्तादो कज्जसिद्दो ण आस-
सोडदि ।

विद्वषकः—कहुं दिदुपरिहारो णाम । जेण मए तत्थ को वि उवाओ
कपिओ चिद्दुइ ।

राजा—जइ एवं तदो तस्स कहणेग आसासणिज्जं हिअं ।

विद्वषकः—(कर्णे एवमेवं कथयति)

राजा—साहु वअस्स साहु । संणिहिदकालगब्भो पवंचो उण्णीओ ।

(प्रविश्य माधविका)

माधविका—जेदु जेदु भद्रा । देवी एवं विष्णवेदि ।

महुमासस्स वलक्षा बद्वृइ कुसुमाउहस्स अज्ज तिही ।

तेण अ तं पूअइउं उववण-देसो करोअदु सणाहो ॥ ११ ॥

इतोऽपि किं न ते आसङ्गः (?) आश्वासः (?) । तथापि हृष्ट-
परिहारेणाहृष्टमात्रात् कार्यसिद्धिः नाशास्यते । कथं हृष्टग्निहारो नाम ।
येन मया तत्र कोप्युपायः कल्पितस्तिष्ठति । यद्येवं ततस्तस्य कथनेना-
श्वासनीयं हृदयम् । वयस्य, साधु साधु सन्निहितकालगर्भः प्रपञ्चः
उन्नीतः ।

जयतु जयतु भर्ता । देवी एवं विज्ञापयति ।

मधुमासस्य वलक्षा वर्तंते कुसुमायुधस्याद्य तिथिः । तेन च तं पूज-
यितुमुपवनदेशः क्रियतां सनाथः ॥ ११ ॥

विदूषक—क्या इतने पर भी आपको धैयं नहीं बैधा । ('अत्यभिम हुविस्सते'
(१२७) इत्यादि पद्म कहता है)

राजा—परन्तु फिर भी दृष्ट वस्तु का परित्याग कर अदृष्ट वस्तु की मात्रा
कल्पना कर लेने से कार्य को सिद्ध नहीं होती ।

विदूषक—आपने यह कैसे मान लिया कि दृष्ट वस्तु का परित्याग हुआ है—
बर्योंकि इस कार्य की सिद्धि के लिए तो मैंने एक उपाय किया भी है ।

राजा—यदि ऐसा हो तो फिर उसे मुझे वतलाकर मेरे हृदय को आश्रस्त
ही कीजिये ।

विदूषक—('इस प्रकार है' ऐसा कान में कहता है)

राजा—मित्र, यह विलकुल ठीक है । जैसी तुमने कल्पना की है उससे तो
समीपदर्ती काल में ही उसका फल गर्भित दिखलायी देता है ।

(माधविका का प्रवेश)

माधविका—(प्रवेश करती हुई) महाराज की जय हो । महारानी ने
विनयपूर्वक आपको यह निवेदन किया है—

आज मधुमास के शुक्ल पक्ष की मदनतिथि (पौर्णमासी) है, अतः तिथि के स्वामी मदन की पूजा के लिए आप उपवन प्रदेश को सनाथ कीजिए ॥ ११ ॥

राजा—माहविए, विष्णवेहि देवीए एसो अहं आगदो च्चेअ मजणु-ज्जाणं । अणंतरं देवी प्पमाणं ति ।

माधविका—जं देवो आणवेदि (इति निष्कान्ता)

राजा—वअस्स, जहा उवककंतो अत्थो ण हीअदि तहा पअत्तो कादव्वो ।

विद्वषकः—णिउणआरं उवककंतो कधं अणहा हुविस्सदि ।

राजा—ता दावेहि उअबण-मरणं ।

विद्वषकः—इदो इदो एहु वअस्सो ।

(इति तदभिमुखं परिक्रामतः)

राजा—उज्जाणम्मि पडिहुआ ससिमुही दिहु मए अज्ज सा तारिच्छा उवणिज्जइ स्त्वं उणो जं भावणाए फुडं ।

हुतं तस्स जहा करेमि गमणं लाहस्स तिस्सा तहा तण्हाए अमणद्वाह व्व पडिअं णिव्वाइ मे माणसं ॥१२॥

माधविके विज्ञापय देव्यै । एपोऽन्नमागत एव मदनोद्यानम् । अनन्तरं देवी प्रमाणमिति । यदेवः आज्ञापयति । वयस्य, यथा उपक्रान्तोऽर्थो न हीयते तथा प्रयत्नः कर्त्तव्यः । निपुणतरमुपक्रान्तः कथमन्यथा भविष्यनि । तदर्शय उपवनमार्गम् । इत इतः एतु वयस्यः ।

उद्याने प्रतिस्थिता शशिमुखी हृषा मया अद्य सा ताहशी उपनीयत एव पुनर्यदं भावनया स्फुटम् । भूतं तस्य यथा करोमि गमनं लाभस्य तस्यास्तथा तृष्णाया अमृतहृदे इव पर्तितं निर्वाति मे मानसम् ॥ १२ ॥

राजा—माधविका, महारानी को जाकर बतला दो कि मैं अभी मदनोद्यान में आ रहा हूँ । इसके बाद महारानी जानें ।

माधविका—महाराज की जो आज्ञा । (चली जाती है)

राजा—मित्र, अब यहाँ तुम्हारा आरम्भ किया हुआ कार्य न बिगड़े ऐसा तुम्हारा उद्योग होना चाहिए ।

विद्वषक—जो कार्य बहुत ही चतुराई से आरम्भ किया गया हो उसमें अन्यथा क्या हो सकता है ।

राजा—अच्छा ! तो फिर उपवन का मार्ग दिखलाओ ।

विद्वषक—मित्र, इधर से आइये । (दोनों उधर ही घूमकर चलते हैं)

राजा—आज मैंने उद्यान में स्थित (उसी) चन्द्रवदना सुन्दरी को उद्यान में स्थित देखा और अब वही उसी रूप में पुनः भावना के द्वारा लायी जा रही है । उसे पाने की तृष्णा में जैसे-जैसे मैं आगे बढ़ रहा हूँ वैसे-वैसे मेरा हृदय अमृत के सरोवर में प्रविष्ट हुए व्यक्ति जैसा तृप्ति (या शान्ति-तुष्टि) का अनुभव करता जा रहा है ॥ १२ ॥

विद्वषकः—साहेदि क्षु होतं अत्थं चित्तवृत्ती ।

राजा—वअस्स, पेच्छ दाव मअणुज्जाणस्स महुमाससंजणिअं सोहा-दिसअं । इह हि—

वासंतिभा-मउल-ईस समूससंत-
पत्तंतराल-महिणिम्मय-संणिवेसा ।
रिछोलिआ महुअराण सिलीमुहेहि
संजोइगा कुसुम-साअर्भासिजिण व्व ॥ १३ ॥

साधयति खलु भविष्यन्तमर्थं चित्तवृत्तिः । वयस्य, पश्य तावन्मदनो-
द्यानस्य मधुमाससंजनितं शोभातिशयम् । इह हि—

वासन्तिका-मुकुलेषत्समुच्छ्वासन्-पत्रान्तरालमहीनिमित्सन्निवेशा ।

अर्णीं मधुकराणां शिलीमुखैः संयोजिता कुसुमसायकशिञ्जिनीव ॥ १३ ॥

विद्वषक—(क्योंकि) चित की वृत्ति भावी अर्थ को साव लेती है ।

राजा—मित्र, वसन्त से होने वाली इस उद्यान की शोभा तो जरा देखो । इस समय यहाँ—

वासन्ती लता की प्रस्फुटित कलिकाओं की पेंखुरियों के मध्यवर्ती स्थानों

पर अब स्थित यह भ्रमरों की पंक्ति काम के धनुष पर संक्षक प्रत्यञ्चा-सी हो गयी है ॥ १३ ॥

विदूषकः—वअस्स, तुम्हाणं अव्याणुरूपं भासइ । अहं उग अत्तणो उइदं भणामि—

माहवीण मउलगा-विलगा माणसे फुरड़ छप्पमाला ।

मुत्तिआ-मरगभ्यवर्वेहं गुफिदा महुसिरी-रसण व्व ॥ १४ ॥

वयस्य, युष्माकम् आत्मानुरूपं भासते । अहं पुनः आत्मन उचितं भणामि । माधवीनां मुकुलाग्रविलगना मानसे स्फुरति षट्पदमाला । मुक्तिका-मरकत-प्रवरैः गुम्फिता मधुश्रो-रशनेन ॥ १४ ॥

विदूषक—मित्र, तुम्हें (इस समय) सभो पद थं आत्मानुरूप (ही) दिनलायी पढ़ रहे हैं । मैं (भो) जैसा इन्हें अपने अनुरूप देख रहा हूँ उसे बतलाता हूँ—

मुझे तो यह माधवोलता की कलिकाओं के अग्रनाग पर स्थित रहने वाली भ्रमरों की पंक्ति ऐसी प्रतीत हो रही है कि मौक्किक-दाम के साथ मरकतमणि की गूँथी हुई वसन्तलक्ष्मी की करघनो-सी हो ॥ १४ ॥

राजा—वअस्स, इदो पेचिछाहु ।

उन्मिल्ल चम्पअ-कदंबअ-जाअ-संगा

एदे सिलीमुहगणा यिमिआ फुरंति ।

कादुं वसे तिहुअं रइ-वल्लहेण

कस्तूरिआइ गुलिअ व्व हुआ हुआन ॥ १५ ॥

वयस्येतः प्रेक्षताम् । उन्मोलच्चम्पककदम्बजातसङ्गा एते शिलो-मुखगणाः स्तिमिताः स्फुरन्ति । कतुं वशे त्रिभुवनं रतिवल्लभेन कस्तूरि-कायाः गुलिका इव हुताशे ॥ १५ ॥

राजा—मित्र, अब जरा इधर भी दृष्टि डालिए—

विकसित चम्पक पुष्पों के गुच्छों पर निश्चल बैठे हुए ये भीरों के क्षुण्ड त्रिभुवन को अपने वश में करने के लिए कामदेव के द्वारा अग्नि में बाहुति दिये जाने-वाले कस्तूरी के गोलों के समान शोभित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

(पवनस्पर्शमभिनीय)

लंकालंकारवामा-कुअसमसलिले सीअदं विष्फुडंता
लोपामुद्राइ विद्राविअतणुलदिआ आसमुद्रा विमद्रा ।
संभावोअंत-तापी-सिसिर-जललव-एहाणतण्हाअभूआ
वाता मं गंधसार-फरिस-मुरहिणो दविखणच्चा छिवंति ॥ १६ ॥

लङ्घालङ्घारवामा: कुचसमसलिले शीततां विस्फुरंताः
लोपामुद्रया विद्राविततनुलतिका आसमुद्राः विमर्दाः ।
संभाव्यमान-तापी - शिशिरजल-लवस्नान - सान्द्रभूताः
वाता मां गन्धसारस्पर्शमुरभयः दाक्षिणात्याः स्पृशन्ति ॥ १६ ॥

(पवन के स्पर्श का अनुभव करते हुए)

दक्षिण दिशा के ये पवन मुझे स्पर्श कर रहे हैं जो लंका-नगरी की अलंकार-स्वरूप अंगनाओं के उरोजों के समान शीतल सलिल में प्रसरणशील हैं; वेला के अनुरूप रहने वाले, लोपामुद्रा के शरीर के द्रवरूप पदाथों के रूप में होने वाले, समुद्र तक विस्तीर्ण फैलने वाले और मर्दनशील स्वभाववाले हैं; अतिशय शीतल तापी नदी के जल के लेशमात्र स्नान के कारण घनीभूत से लगने वाले एवं उत्तम गन्ध की स्पर्श से सुगन्धित हैं ॥ १६ ॥

एदे चन्दण-खल-संगद-महादब्बीअराहोसर-
प्पच्चुरिगण्ण-हलाहलाइ व खल-फक्साउला मारुआ ।
वल्लोसुं किद-भूरि-बेलगभरा बाणे पस्तुणेसुणो
दिद्दे कि णु कुणांति हा विरहिणं सव्याण काउं बहं ॥ १७ ॥

एते चन्दनवृक्षसञ्ज्ञत-महादर्वीकराधीश्वर-
प्रत्युद्गीर्णहलाहला इव खलस्पर्शकुला मारुताः ।
वल्लीषु कृतभूरिवेलनभरा बाणान् प्रसूनेपोः
दिरवान् कि नु कुवंन्ति हा विरहिणां सर्वेषां कर्तुं वधम् ॥ १७ ॥

तथा—ये पवन चन्दन के वृक्षों पर लिपटे हुए बड़े-बड़े सर्प-राजों के मुख से निकाले गये श्वास हैं जो स्पर्शमात्र से हलाहल विष के समान अकुलाहट उत्पन्न करने वाले हो रहे हैं। अतिशय शक्ति के साथ अपना भार लताओं पर रखते

हुए ये पवन सभी विरहीजन का वध करने के लिए कामदेव के वाणों को विष से
युक्त बना रहे हैं ॥ १७ ॥

विदूषकः—(पुरोऽवलोक्य)

कपूरराशि-विगुणीकिद-सिन्दुवारं
उक्खित्त-गन्धफलिआ-पुणारत्त-दीवं ।
संलग्न-अग्नि-सिहमग्न-असोआ-पुष्टं
द्वाणं इदं खु रइ-वल्लह-पूजणस्त ॥ १८ ॥

कपूरराशि-विगुणीकृत-सिन्दुवारम् उत्क्षित्त-गन्धफलिका-पुनरुक्त-दोपम् ।
संलग्नाग्निशिखामार्गांशोकपुष्टप स्थानमिदं खलु रतिवल्लभ-पूजनस्य ॥ १८ ॥

विदूषक—(आगे की ओर देखते हुए) ये सिन्दुवार वृक्ष जो अपने सामने
कपूरराशि को भी तुच्छ या गुणहीन कर देते हैं इन्हीं की सुगन्धित कलिकाएँ
ऊपर की ओर उठकर अब दीपक की शोभा को पुनरुक्त-स्ता बना रही हैं, मार्ग
में अवस्थित अशोक वृक्ष के पुष्ट अग्निशिखा से संसक्त से दिखलायी पड़ रहे हैं
अतः सचमुच यह स्थान रतिवल्लभ मन्मथ की पूजा का उपयुक्त प्रदेश है ॥ १८ ॥

राजा—ता एदस्स संणिहिदवह्निणो माघवी-कुडंगस्त छाआए वोस-
मिझ देवीए आमयणं पडिच्छामो । (इत्युपविशति)

(नेपथ्ये कलकलः)

विदूषकः—(आकर्ष्य)

जलहर-गर्जिज्ञाम-संदो जो एसो सुव्वइ णिणाओ ।
वाह सोविदल्ल-वामण-देवी-नासीरओ ति तवकेमि ॥ १९ ॥

तदेदस्य सञ्चिहन्तर्वर्तिनः माघवीकुडङ्गस्य छायायां विश्रम्य देव्या
आगमनं प्रतीक्षामहे ।

जलधर-गर्जितमन्दः य एषः श्रूयते निनादः । अथ सोविदल्ल-वामन-
देवी-नासीरतः इति तर्क्यामि ॥ १९ ॥

राजा—अच्छा तो अब हम इसी के सभीप विद्यमान माघवी लतामंडप की

छाया में विश्राम करते हुए महारानी के आने की प्रतीक्षा करते हैं। (बैठ जाते हैं । नेपथ्य में कलकल-ध्वनि होती है)

विदूपक—(सुनकर) मूँझे लग रहा है कि जो यह मेघ के गर्जन-सी मन्द्र स्वर में आती हुई ध्वनि सुनायी पड़ती है, यह अन्तःपुर के सेवक कंचुकी वामन आदि महारानी की सैन्य-समुदाय की अगली टुकड़ी की ही (ध्वनि) है ॥ १९ ॥

राजा—जुज्जइ संभाविग्रथस्स तब्को ।

(ततः ग्रविशति सपरिजना देवो)

माधविका—इदो इदो एदु देवो । (इति परिक्रामति)

देवो—(विलोक्य) अहो महुसमअविभिन्ना उववणस्स विलक्षण-सोहगरेहा । तह हि—

गुच्छेर्हि सपओहर व्व भसलोर्हेर्हि सकेस व्विअ

प्पाणंति व्विअ दाहिणेण पवणेणाइव्व-आमोइणा ।

जपंति व्व यिईरुवेण सइला जा जंपएर्हि व सा

पुफर्हेर्हि व विभूसिआ वणसिरी णिम्माइ कौतूहलं ॥ २० ॥

युज्यते सम्भाविताथस्य तक्तः ।

इतः इतः एतु देवो । अहो मधुसमयविजूम्भिता उपवनस्य विलक्षण-सीभाग्यरेखा । तथा हि—

गुच्छे: सपयोधरा इव भृङ्गीघैः सकेशा इव प्राणती इव दक्षिणेन पवनेनातीव आमोऽदना । जल्पन्ती इव पिकोरुतेन सकला (सचेला) ? या चम्पकैरिव सा पुष्पैरिव विभूषिता वनश्रीः निर्माति कौतूहलम् ॥ २० ॥

राजा—तुम्हारी यह संभावना उचित ही लग रही है ।

(अपने परिचारक परिवार सहित महारानी का प्रवेश)

माधविका—महारानी, इधर से आइए इधर से । (धूमरी है)

महारानी—(देखती हुई) ओ हो ! वसन्तऋतु में इस उपवन की सौन्दर्य-रेखा के बढ़ जाने से बड़ी ही विलक्षणता आ गयी है—क्योंकि यहाँ पर—यह पुष्णों के गुच्छकों के द्वारा उरोजघारिणी बन रही है, इसके केश ऋमर के

समूह हो रहे हैं, अतिशय सुगन्ध से पूर्ण दक्षिण-पवन की श्वासों को लेकर आमोदशील बना रही है, कोकिलाओं के आलापों में जो बोल रही हैं तथा चम्पक वृक्षों के पुष्पों से अलंकृत होती हुई अब यह बनधी अतिशय कौतूहल उत्पन्न करने लगी है ॥ २० ॥

राजा—(स्वगतम्) अबं जेव्व अवसरो देवीए समं मिलनस्य
(प्रकाशम्) देवि, एवं णेदं जहा देवो वणवेदि । जं एर्ज्ञ्ह—

दोसंति दाहिणसमीरणमगलगगा
 साहारमंजरिपराडकणाण लेसा ।
 फंसेण तुल्लसमअं अववाहिमंता
 सावग्गहा पहिग-माणस-उक्कर व्व ॥ २१ ॥

अयमेवावसरः देव्या समं मिलनस्य । देवि, एवं नु इदम् । यथा देवी वर्णयति । यदिदानीम्—

दश्यन्ते दक्षिण-समीरण-मार्गलन्नाः सहकार-मञ्जरी-परागकणानां
 लेशाः । स्पर्शेन तुल्यसमयमपवाह्यमानाः सावग्रहाः पथिकमानसोत्करा
 इव ॥ २१ ॥

राजा—(स्वगत) महादेवी से मिलन का यही तो उपयुक्त अवसर है ।
(प्रकट) महारानी, यह इसी तरह का है जैसा तुमने अभी कहा था । क्योंकि इस समय—

दक्षिण दिशा से आने वाले पवन के मार्ग में आकर लगने वाले आम्रमञ्जरियों के परागकणों के ये अंश स्पर्श के समय हटाये जाने पर भी विरह की शिक्षा प्राप्त करने वाले प्रवासीगण के मनों की राशि से दिखलायी पड़ रहे हैं ॥ २१ ॥

देवी—(स्वगतम्) अम्महे, अज्जउत्तो अम्हं पढमं चेऽ एत्य समागमो । (प्रकाशम्) जेदु जेदु अज्जउत्तो । (माधविकाम् उद्दिश्य) हंजे, दावेहि अज्जउत्तस्स मम्महपूरणुद्देशमग्गं ।

माधविका— जहा देवी आणवेदि (इति परिक्रम्य) इदो इदो देवो ।
 (इति सर्वे तदभिमुखं परिक्रामन्ति)

देवी—ताव अज्जउत्तो एवं आसर्ण अलंकरेदु ।

राजा—एवं भोदु । (इति देव्या सहोपविशति)

विदूषकः—(वामाक्षिस्पन्दभिनीय) भो वअस्त, तुम्हाणं अज्ज
एरिसो उच्छवो उवठिदो । मम उण वामनेत्तं पफुरइ । ता ण जाणे किं
अज्ज मे हुविस्तदि ।

वसन्ततिलका—एष्ठि पि पावणिज्जे मम्महूप्राङ्गं सेत्थिवाअणिए ।

विप्फुरइ वामणेत्तं विवरीं फलह विवरीए ॥२२॥

अहो, आर्यपुत्रः अस्माकं प्रथममेवात्र समागतः । जयतु जयत्वार्य-
पुत्रः । हंजे, दर्शय आर्यपुत्रस्य मन्मथ पूजनोद्देशमार्गम् ।

यथा देवी आज्ञापयति । इत इत । देवः । तावदार्यपुत्रः एतदासनम-
लङ्घरोतु । एवं भवतु ।

भो वयस्य, युध्माकमद्यैदृश उत्तमः उपस्थितः । मम पुनः वामनेत्रं
प्रस्फुरति । तत्र जाने किमद्य मे भविष्यति ।

इदानीमपि पावनीये मन्मथपूजायाः स्वस्तिवाचनिके ।

विस्फुरति वामनेत्रं विपरोतं फलति विपरोते ॥ २२ ॥

रानी—(स्वगत) अरे ! आर्यपुत्र तो हमसे पहिले ही यहाँ आ चुके
हैं । (प्रकट) महाराज की जय हो । (माधवी को लक्ष्य कर) सखी, आर्यपुत्र
को मदनपूजा के स्थान का रास्ता दिखलाओ ।

माधविका—महारानी की जैसी आज्ञा । (घूमकर) महाराज, इधर से
आइए इधर से ।

रानी—अब आर्यपुत्र इस आसन पर आसीन हो जाएँ ।

राजा—अच्छा ठीक, यही करते हैं । (महारानी के साथ बैठ जाता है)

विदूषक—(अपनी बाँयी औंख फड़कने का अनुभव करते हुए) हे मिश्र,
आपके लिए तो यह आनन्द की बेला उपस्थित हो रही है परन्तु मेरी तो कभी
बाँयी औंख फड़क रही है इसलिए न जाने मुझे क्या हो जाए ।

वसन्ततिलका—मदनपूजन के आनन्दपूर्ण स्वस्तिवाचन के समय भी यदि

आपकी वायीं आंख फड़कने लगी (तो ऐसा प्रतोत होता है कि) विपरीत व्यक्ति को सभी फल उलटे ही फलते हैं ॥ २२ ॥

विदूषकः—कथं एसा दुष्टदासी पियवयस्य-सब्बासे विअरीअति मं अदिखवइ ।

वसन्ततिलका—एतारिसं महाविज्ञानराशि ब्राह्मणं को वा एवं भणिस्सदि ।

विदूषकः—आ दुष्टदासि, कि तुह वज्ञणेण पआसणिज्जं ने पंडिग्रत्तं ।

दो तिष्ण व अहाइ सेविअ-गुरुं ज्ञारेकमेत्तोइआ

विज्ञा जेण मए सणन्मि णिहिआ सब्बा च सब्बाहिआ ।

पेच्छंताण दुष्टतनाण विहिअबभासो समस्ताअमे

उगाहर्न्मि पवद्विदे वि जणिओ तादो वि भग्नुतरो ॥ २३ ॥

कथमेषा दुष्टदासो प्रियवयस्यमकाशे विपरीत इति मामविक्षिपति ।
एतादृशं महाविज्ञानराशि ब्राह्मणं को वैवं भणिष्यति ।

आः दुष्टदासि, कि तव वचनेन प्रकाशनीयं मे पण्डितत्वम् ।

द्वे ब्रीणि वा अहानि सेवितगुरुं वारैकमात्रोचिना

विद्या येन मया मनसि निहिता सर्वा अपि सर्वाधिका ।

प्रेक्षमाणानां दुष्टोत्तमानां विहिताभ्यासः समस्तागमे

उद्ग्राहे प्रवर्तितेऽपि जनितस्तातोऽपि भग्नोत्तरः ॥ २३ ॥

विदूषक—अरे ! मेरे प्रियमित्र के सम्मुख हो यह दुष्ट दासी मुझे विपरीतजन वतलाकर मेरी निन्दा करने लगी ।

वसन्ततिलका—अरे ऐसे महान् विज्ञानराशि से ब्राह्मण को भला कौन ऐसी बात कह सकता है ।

विदूषक—अरी दुष्ट दासी, क्या तुम्हारे कहने मेरा पाण्डित्य प्रकट होगा ।
सुन—मैंने अपने गुरु की दो-तीन दिन सेवा करते हुए जो विद्या एक दिन के योग्य थी उसे मैंने अपने सभी सहाय्यायियों की तुलना में अपने मन में अधिक मात्रा में स्थापित की है । मैं जब शास्त्रार्थ के समय आक्षेप करता हूँ तो अच्छे-अच्छे वृद्ध विद्वान् भी देखते रह जाते हैं और सभी शास्त्रों के अभ्यास में

निपुण अपने पिता से भी दास्तार्य हो जाने पर मैंने उन्हें भी निश्चित कर दिया था ॥ २३ ॥

(सर्वे हसन्ति)

वसन्ततिलका—तदो सब्बजणविविधां दे पंडित्यत्तणं ।

विदूषकः—ए हि पच्छद्वले वारणे चिदकारेण तस्स अणुमाणं, तदो एवारिसस्स महाराजस्स पुरवकारो च्चेऽ मे गुणगणं पअडेइ ।

वसन्ततिलका—अदो उजोव्व कंदुओव्व सपरिहासं सजलंतेउरवासि-जणेण जहिच्छं पाडिज्जंतो उदुविज्जंतो अ चिदुसि । अवि अ अम्हा-रिसेहि पंडित्यत्तणोन्ति चरणेहिपि ए छिष्पोअसि ।

विदूषकः—ए कलु वाअसेहि अकिदाअरस्स वि सहवारसाहिणो सोहगं पिअउले विणप्पअदि ।

वसन्ततिलका—ए कलु अरिदुदुमो वाअभिषणेहि सलाहोअदि ।

विदूषकः (सक्षोधं राजानमुद्दिश्य) एवारिसस्स राइणो सेवणस्य फलं एप्हि मे पज्जत्तं । जेण विहप्पइसरिच्छेहि पि पंडित्यवरेहि सला-हिज्जंत-विष्णाण-विसेसो महाउलुप्पणो बह्यणो कोडादो वि अप्पबुद्धीए दासीए पराहृवीअदि । ता एत्तिअपज्जंतं जं जाअं तं जाअं । इमादो परं विदेअरहिअस्स पहुणो अलं अणुवद्वृणेण । ता अणदो गमिस्सं । (इत्युत्तिष्ठति)

वसन्ततिलका—को णाम अणो भवारिसो विदुहो जेण वामणेत्त-फुरणफलं जहत्थं कादुं उबट्टिअपि सोत्थिवाः णं परिच्चइअ गंतु पउत्तोसि ।

विदूषकः—विष्णाणं पसमिच्छअ जं दिणं तं अणुं पि बहुलवखं ।

जं उण गुणं अलविखज दिणं लवर्खांप तं ण अणुमेत्तं ॥ २४ ॥

(इति किञ्चिद् गतः)

ततः सर्वजनविख्यातं ते पण्डितत्वम् ।

न हि प्रत्यक्षे वारणे चीत्कारेण तस्यानुमानम्, यतः एताद्वास्य महाराजस्य पुरस्कार एव मे गुणगणं प्रकटयति ।

अतएव कन्दुक इव सपरिहासं सकलान्तःपुरवासिजनेन यथेच्छं पात्यमानः उत्थाप्यमाणश्च तिष्ठति । अपि च अस्माहशोः पण्डितब्राह्मण इति चरणेरपि न स्पृश्यसे ।

न खलु वायसेरकृतादरस्यापि सहकारशास्त्रिनः सौभाग्यं पिककुलेऽपि जाप्यते । न खल्वरिष्टद्रुमः काकभिन्नैः श्लाघ्यते ।

एताह्वास्य राज्ञः सेवनस्य फलमिदानीं मे पर्याप्तिः । येन वृहस्पति-सहशेरपि पण्डितवरैः श्लाघ्यमानविज्ञानविशेषः महाकुलोत्पन्नः ब्राह्मणः क्रोडातोऽप्यल्पबुद्ध्या दास्या पराभूयते । तदेतावत्पर्यन्तं यज्जातं तज्जातम् । अस्मात् परं विवेकरहितस्य प्रभोरलमनुवत्तनेन । तदन्यतो गमिष्यामि ।

को नामान्यो भवाहशो विवृधो येन वामनेत्रस्फुरणफलं यथार्थं कर्तुं-मुपस्थितमपि स्वस्तिवाचनं परित्यज्य गन्तुं प्रवृत्तोऽसि ।

विज्ञानं प्रसमीक्ष्य यद्दत्तं तदणु अपि बहुलक्षम् ।

यत् पुनः गुणमलक्षयित्वा दत्तं लक्षमपि तन्नाणुमात्रम् ॥ २४ ॥

(सभी हँसते हैं)

वसन्ततिलका—अब तो आपका पाण्डित्य सम्पूर्ण संसार में प्रसिद्ध हो चुका है ।

विद्वाषक—अरे जब हाथो ही सामने दिखलायी दे तो उसका चीत्कारों से अनुमान नहीं किया जाता है । इन जैसे महाराज से पुरस्कृत होना ही मेरे गुणों को प्रकट कर रहा है ।

वसन्ततिलका—इसी कारण तुम अन्तःपुर के सारे लोगों से गेंद की तरह बड़े आनन्द में उठाये और फेंके जाते रहते हो और पण्डित ब्राह्मण मानकर तो हमारे जैसे भी आपके चरण छूना नहीं चाहते ।

विद्वाषक—यदि कौआं को आग्रवृक्ष अच्छा न लगे तो कोई बात नहीं, क्योंकि कोयल को उसका सौभाग्य बतलाना नहीं पड़ता है ।

वसन्ततिलका—कौआं को छोड़कर और कौन अरिष्ट द्रुम की प्रशंसा करेगा ।

विदूषक—(क्रोध में आकर महाराज से) आज मुझे ऐसे राजा की सेवा का फल मिल गया जब कि बृहस्पति जैसे पण्डितों ने जिसके विशेष शास्त्रज्ञान की प्रशंसा की थी ऐसे महान् कुल में उत्पन्न होने वाले मुझ ब्राह्मण को विनोद का साधन बनाकर अत्पुरुद्धि की दासी से पराजित करवाया जा रहा है । इसलिए अब तक जो हुआ सो हो चुका । इसके बाद किसी अविवेकी स्वामी की सेवा नहीं होगी और इसलिए मैं अन्यथा चला जाऊँगा । (जाने के लिए उठता है)

वसन्ततिलका—आपके समान अन्य ऐसा दूसरा पण्डित कहाँ होगा जो अपनी बांयी आँख के फड़कने के फल को सार्थक करने के लिए प्राप्त होने वाले स्वस्ति-वाचन को छोड़कर जाने लगे ।

विदूषक—जो किसी के विशेष ज्ञान को देखकर (पुरस्कार आदि) दिया जाए तो वह अणु भी हो तो लाखों के बराबर होता है परन्तु जो गुणों को न देख-कर लाख भी दिया जाए तो वह अणु के बराबर भी नहीं होता है ॥ २४ ॥

देवी—(विहस्य) अज्ज गोतम, खमोअदु एदाए एक्को अईक्कमो । जदो संणिहिदो भअवदो कुसुमाउहस्स पूथणमुहुत्तो ।

विदूषकः—णत्थ मे गाअमणप्पओअणं । जदो णर्ददाणं आणाभंगो बहुणाणं माणखंडणं अ अणाउहवहोत्ति कहंति ।

देवी—अज्ज मा कुप्प । जहा जहा दे माणो हुविस्सदि तहा करि-स्सामो ।

विदूषकः—जइ देवीए महंतो णिब्बधो मं अणुणेउं चिठुदि ता इमाए दासोए विणाण-लव-संजणिअं अहंकाराहासं परिहरिस्सं । अणधा पुहई-रज्जदाणेण वि ण परावत्तिस्सं ।

वसन्ततिलका—एदोहि ख्लु मोहर्हि पुहई-रज्जवत्ता वरीअंति ।

देवी—अज्ज, कि एत्थ णिब्बधेण । विज्जाविसेसो ख्लु बहुणाणं संभावणिज्जो कुलधम्मो ।

वसन्ततिलका—दई, कुदो बहुणावसअस्स माणो ठाविअदि अणांतरं

चित्र मए णिरुत्तरीकओ णिउत्त-णिअ-पंडिच्चवभमो मिलाणमुहो अत्तंणो
दुविवणअं सोअंतो जाणिस्सदि पराहिओअ-फलं ।

विद्वषकः—अविबहुविभीसिआर्हं ण क्खु बुहा परिहृवीअंति ।
ण विलोइओ सुदो वा तिमिरेहं रइ-तिरवकारो ॥ २५ ॥

आर्यं गौतम, क्षम्यतामेतस्या एकोऽतिक्रमः । यतः सन्धिहितः भगवतः
कुसुमायुधस्य पूजनमूहूर्तं । नास्ति मे आगमनप्रयोजनम् । यतः नरेन्द्रा-
णामाज्ञाभज्ञः ब्राह्मणानां मानखण्डनञ्चानायुधवव इति कथयन्ति ।

आर्यं, मा कुप्य । यथा यथा ते मानो भविष्यति तथा करिष्यामः ।
यदि देव्याः महान् निर्बन्धो मामनुनेतुं तिष्ठति, तदस्याः दास्याः विज्ञान-
लवजनितमहञ्ज्ञाराभासं परिहरिष्यामि । अन्यथा पृथ्वीराज्यदानेनापि
न परावर्तिष्यामि । एते: खलु मोघैः पृथ्वीराज्यपात्राणि त्रियन्ते । आर्यं,
किमत्र निर्बन्धेन । विद्याविशेषः खलु ब्राह्मणानां सम्भावनीयः कुलधर्मः ।

देवि, कुतः ब्राह्मणापसदस्य मानः स्थाप्यते । अनन्तरमेव मया
निरुत्तरीकृतः निवृत्तनिजपाणिडत्यभ्रमः म्लानमुखः आत्मनः दुर्विनयं
शोचन् ज्ञास्यति पराभियोगफलम् ।

अवुधविभीषिकाभिर्न खलु बुधाः परिभाव्यन्ते ।
न विलोकितः श्रुतो वा तिमिरे: रवितिरस्कारः ॥ २५ ॥

रानी—(हँसकर) आर्य गौतम, इस दासी की एक छोटी-सी भूल को
आप क्षमा कर दीजिए, क्योंकि भगवान् कामदेव के अचंन का मुहूर्त अब
समीप ही है ।

विद्वषक—अब तो मेरे यहाँ आने का ही प्रयोजन नहीं रहा । क्योंकि राजा
की आज्ञा का उल्लंघन और ब्राह्मण के मान का भंग होना बिना शस्त्र के किया
गया वध है ऐसा कहा जाता है ।

रानी—आर्य, अब आप अधिक क्रोध मत कीजिए । जैसे आपका मान रहे
वैसा ही हम आगे सब कार्य करेंगे ।

विद्वषक—यदि महारानी मुझे आश्रह करके रखने का अनुनय कर ही रही है तो मैं इस दासी की पुत्री के विशिष्ट ज्ञान से उत्पन्न होने वाले सेए जूठे अहंकार को अभी हटाये देता हूँ, वर्ण मुझे सारी पृथ्वी का राज्य भी दे डालो तो मैं लौटने वाला नहीं हूँ ।

वसन्ततिलका—पृथ्वी ऐसे व्यर्थ लोगों का राज्यत्व वरण भी करेगी क्या ?

रानी—आर्य, अब आश्रह की क्या आवश्यकता है । क्योंकि विशेष विद्याओं का ज्ञान ही ब्राह्मणों का कुलधर्म माना जाता है ।

वसन्ततिलका—महारानीजी, आप इस साधारण ब्राह्मण का इतना मान क्यों रख रही हैं । यह अभी थोड़ी ही देर में मेरे द्वारा निरुत्तर होकर अपने ज्ञान के भ्रम को दूर करते हुए मलिनमुख होकर अपनी मूर्खता और दूसरों पर अभियोग लगाने का फल प्राप्त कर लेगा ।

विद्वषक—मूर्खों की घमकियों से विद्वान् सचमुच कभी पराभूत नहीं होते, क्योंकि सूर्य को ढूँकने का कार्य अंधकार के द्वारा होना न तो देखा गया और न सुना ही गया है ॥ २५ ॥

वसन्ततिलका—एहि दाव । मुहूर्तमेत्तेण सर्वं पञ्चक्षरं भविस्सादे । जदो,

साहेह कस्स जोओ साहु साहृत्तणं लोए ।

जइ णिअ-भणिई अतहा ता दिण्णजलंजली भवे भोओ ॥ २६ ॥

एहि तावत् । मुहूर्तंमात्रेण सर्वं प्रत्यक्षं भविष्यति । यतः—

साधयति कस्य योगः साधु साधुत्वं लोके ।

यदि निजभणितिरतथा तद्वत्जलाञ्जलिभवेत् भोगः ॥ २६ ॥

वसन्ततिलका—अच्छा तो आइए । अभी थोड़ी ही देर में ही सारी बातें सामने आ जायेंगी । क्योंकि—

संसार में किसका योग या संगति उत्तम है इसे उसका साधुत्व गुण स्वयं ही दिखला देता है । यदि मेरा यह कथन अन्यथा हो तो मैं अपने सुख को (या मान्यता को ?) छोड़ दूँगी ॥ २६ ॥

विदूषकः—जइ देवी संपदाआणुसारेण अत्तणो समख्यां अम्हाणं परिक्खणं करेइ तदो खणमेत्तेण तुमं मूर्झिकरिस्सं ।

देवी—भोदु तुम्हाणं अणोणकलहणिब्बाओ विवाओ ।

विदूषकः—तदो अणुगहीदोहि । (इति परावतते)

राजा—देवि,

विजओ विणिगगहो वा सत्तिभसत्तीहि अणार-सज्जो ।

ता ण जहत्थं कहणं मज्जत्थाणं पुण णिझोओ ॥ २७ ॥

यदि देवी सम्प्रदायानुसारेणात्मनः समक्षमस्माकं परीक्षणं करोति ततः क्षणमात्रेण त्वां मूर्झीकरिष्यामि । भवतु युष्माकमन्योन्यकलहनिवारको विवादः । ततो अनुगृहीतोऽस्मि ।

देवि, विजयो विनिग्रहो वा शक्त्यशक्तिभ्यामन्यतरसाध्यः । तयोः यथार्थं कथनं मध्यस्थानां पुनर्नियोगः ॥ २७ ॥

विदूषक—यदि महारानीजी अपनी न्यायपद्धति के अनुरूप हमारी परीक्षा करें तो मैं तुझे एक क्षण में चुप कर सकता हूँ ।

राजा—आप दोनों का विवाद तो हो परन्तु यह पारस्परिक कलह से मुक्त होना चाहिए ।

विदूषक—यह आपकी मुझ पर कृपा ही होगी । (लौटने लगता है)

राजा—महारानी, विजय या पराजय किसी की समर्थता या असामर्थ्य इनमें से किसी एक के कारण प्राप्त होती है परन्तु इन दोनों को ठीक बतलाने का अधिकार तो मध्यस्थ (या निर्णायिक) का होता है ॥ २७ ॥

विदूषकः—एकको उण मे अहिलासो करीबदु ।

देवी—कहडु अज्जो ।

विदूषकः—जइ वि देवी पिअवअस्सो अ अम्हाणं परिक्खणे समत्था तहवि देवीए वसंततिलआए वअस्सस्स अ मम उवरि पक्खवादो संभावी-अदि । अंतेउरजणो वि सब्बो ममोवरि दढ़उरं बहुविद्देसो । ता मज्जत्थो अणो आणवीअदु ।

देवी—अह कस्त विसये तुम्हाणं विवाओ ।

विदूषकः—एं रसविसए च्चेऽ ।

राजा—(स्वगतम्) अहो वअस्सस्स उपकंततथ-साहण-विड्धुता ।

देवी—(स्वगतम्) कथं णिमूलस्स वि विसअस्स दारुणो परिनामो । जदि अत्थ अंतेउरचारिणी सिंगारमंजरी—रसणिरुओ कअ-परिस्समा अणेअवारं कअ-परिक्खणा अ । सा उण अउव्व-लावण्ण-णिहाण-हूआत्ति अज्जउत्तस्स णअणमगादो मए प्पअस्तेण रख्खीअदि । अज्ज उण एथं ण अण्णस्स प्पवेसो जुज्जदि । पडिणाद च मए एदाणं परिक्खणं । अदिमुख्खो अ गोअमबहूणो अम्हाणं वीसासं ण मंतेदि । भोदु । का गई । (माधविकां प्रति जनान्तिकम्) हंजे माहविए, सिंगारमंजरी गहिअ लहु आअच्छ ।

माधविका—जं देवी आणवेदी । (इति निष्क्रान्ता)

राजा—(स्वगतम्) अवि णाम पिकवअस्सस्स पओओ फलोवहिदो हुविस्सदि ।

देवी—अज्ज, पवदृउ दाव तुम्हाणं उग्गाहो ।

राजा वअस्स, कोरउ देवीए णिदेसो । तेच्छामो तुह विज्जाहि-ओअं ।

विदूषकः—(वसन्ततिलकामुद्दिश्य) भोदि, भण दाव को एसो सिंगारो णाम कईभेओ अ अति ।

वसन्ततिलका-सर्वं दाव से भणामि । विहावाणुहावसंचारिणं एक-कालं उवद्विईए आअरणभंगे संभुत्ते सञ्चं चेऽ पवासंती अप्परुओ आणंदो रइति मंत्ती अदि । सा जस्स प्पइदी सो सिंगारो णाम ।

विदूषकः—जइ एवं ता एक्को च्चेऽ रसो भवेत्ति तस्स बहुविहवा अणुववणा ।

वसन्ततिलका-विहावादीणं भेएण उत्तादोसाणवआसो ।

(ततः प्रविशति माधविकाकरावलम्बितहृत्ता शृंज्ञारमङ्गरी)

शृंज्ञारमङ्गरी—(स्वगतम्) हिअब, समस्सस समस्सस ।

जस्स कए उत्तामसि भमसि विजूरसि तहज्जलसि ।

तस्स अवोअविलोअण महोदभो उवणओ एण्ण ॥ २८ ।

एकः पुनः मेऽभिलाषः क्रियताम् । कथयनु आयः ।

यद्यपि देवी प्रियवयस्यश्चास्माकं परीक्षणे समर्थस्तथापि देव्या: वसन्ततिलकायाः वयस्यस्य च ममोपरि पक्षपातः सम्भाव्यते । अन्तःपुरजनोऽपि सर्वः ममोपरि दृढतरं बहुद्वेषः । तन्मध्यस्थोऽन्य आनीयताम् ।

अथ कस्य विषये युष्माकं विवादः । ननु रसविषये एव । अहो वयस्यस्य उपक्रान्तार्थं साधनविदर्घता ।

कथं निमूलस्यापि विषयस्य दारुणः परिणामः । यतोऽस्ति अन्तःपुरचारिणी शृङ्गारमञ्जरी रसनिरूपणे कृतपरिश्रमा अनेकवारं कृतपरीक्षणाच । सा पुनरपूर्वलावण्णनिधानभूतेति आर्यपुत्रस्य नयनमागति मया प्रयत्नेन रक्ष्यते । अद्य पुनरत्र नान्यस्य प्रवेशो युज्यते । प्रतिज्ञातश्च मयेतयोः परीक्षणम् । अतिमूखंश्च गौतमो ब्राह्मणोऽस्माकं विश्वासं न मन्त्रयते । भवतु का गतिः । हंजे माधविके, शृङ्गारमञ्जरीं गृहीत्वा लघु आगच्छ ।

यद्वेव्याज्ञापयति । अपि नाम प्रियवयस्यस्य प्रयोगः फलोपहितो भविष्यति ।

आर्यं, प्रवर्ततां तावद्युवयोरुद्ग्राहः । वयस्य, क्रियतां देव्याः निर्देशः । प्रेक्षामहे तत्र विद्याभियोगम् ।

भवति, भण तावत् क एषः शृङ्गारो नाम कतिभेदश्चेति । स्वरूपं तावदस्य भणामि । विभावानुभावसञ्चारिणाभेककालमुपस्थित्या आवरणभङ्गे संवृत्ते स्वयमेव प्रकाशन्नात्मरूपः आनन्दो रत्तिरिति मन्त्र्यते । सा यस्य प्रकृतिः सः शृङ्गारो नाम ।

यद्येवं तदेक एव रसो भवेदिति तस्य बहुविधताऽनुपपन्ना ।

विभावादीनां भेदेनोक्तदोषानवकाशः ।

हृदय, समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

यस्य कृते उत्ताम्यसि ऋमसि विजूरसि तथा ज्वलसि ।

तस्य अद्वितीय विलोकनमहोदय उपनतः इदानीम् ॥ २८ ॥

विदूषक—तो फिर मेरी एक अभिलापा को पूर्ण कीजिए ।

रानी—आर्य, आप उसे बतलाइए ?

विदूषक—यद्यपि आप और मेरे प्रियमित्र महाराज भी हमारे इस वाद के परीक्षण में पूर्ण सक्षम हैं परन्तु फिर भी महारानी से वसन्ततिलका पर और महाराज से मुझ पर पक्षपात करने की संभावना हो सकती है । इधर अन्तःपुर के सभी व्यक्ति मुझसे द्वेष करते हैं इसलिए कोई दूसरा मध्यस्थ लाइए ।

रानी—अच्छा, तो आप दोनों का वाद किस विषय पर होगा ।

विदूषक—अरे, इसी रस विषय पर ही ।

राजा—(स्वगत) अपने आरम्भ किये हुए कार्य के साधन में मित्र ने यहाँ कौसी चतुराई दिखायी है ।

रानी—(स्वगत) विना किसी कारण के ही केवल साधारण-सी बात का भी कितना विषम परिणाम हो जाता है । फिर यह भी अच्छा ही है कि हमारे अन्तःपुर में श्रुंगारमंजरी विद्यमान है जिसने रसनिरूपण का अच्छा अध्ययन किया है और उसके इसी ज्ञान की अनेक बार परीक्षा भी हो चुकी है । उसके असाधारण सौन्दर्यशालिनी होने से अभी तक मैंने उसे महाराज को दृष्टि में न आने देने का पूरा ध्यान रखा था । पर इस स्थान पर एक तो किसी बाहरी व्यक्ति का प्रवेश उचित नहीं है, दूसरे मैंने इन दोनों के वाद-विवाद की परीक्षा करवाने का उत्तरदायित्व ले लिया है । और यह गौतम द्वाह्यण इतना मूर्ख है कि हम पर विश्वास-बिलकुल नहीं कर रहा है । अच्छा, अब क्या किया जाए यही विवशता है । (माघविका से जनान्तिक द्वारा) माघविका, अन्तःपुर से श्रुंगारमंजरी को लेकर जल्दी यहीं आ जाओ ।

माघविका—जैसी महारानी जी की आज्ञा । (जाती है)

राजा—(स्वगत) क्या प्रियमित्र का यह प्रयोग सफल हो जायेगा ।

रानी—अच्छा आर्य, आप अब वाद आरम्भ कीजिए !

राजा—मित्र, आप महारानी की आज्ञा का पालन करें । आज हम भी तुम्हारी विद्वत्ता को देखेंगे ।

विदूषक—(वसन्ततिलका से) अच्छा तो अब आप बतलाइए कि श्रुंगार-रस किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं ?

वसन्ततिलका—मैं इसका स्वरूप ही बतला देती हूँ । विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव की एक काल में रहने वाली अवस्थिति से आवरणभंग हो जाने पर स्वयं प्रकाशित होने वाले आत्मानन्दस्वरूप को रस कहते हैं । इसकी प्रकृति या कारण जब रति (नामक स्थायीभाव) हो तो इसे श्रुंगार-रस कहेंगे ।

विदूषक—यदि ऐसा ही हो तो फिर रस एक ही प्रकार का होगा और फिर इसकी अनेकविधता तो किसी प्रकार सिद्ध हो नहीं हो सकेगी ।

वसन्ततिलका—विभावादि के भिन्न हो जाने के कारण इस प्रकार के दोष को अवसर ही प्राप्त नहीं होगा ।

(माधविका का श्रुंगारमञ्जरी का हाथ पकड़े हुए प्रवेश)

श्रुंगारमञ्जरी—(स्वगत) हृदय, तुम जरा धैर्य रखो धैर्य । क्योंकि—तुम जिसके लिए इतने उतावले होकर भटकते थे, झुरते थे और जल रहे थे उसीके विशिष्ट दर्शन प्राप्त करने का अब यह अवसर प्राप्त हो गया है ॥ २८ ॥

(विचिन्त्य)

जइ वि सविसेसदंसणमिवरसमक्षं ण तीरए काऊं ।

तह वि समूहालंबणविसओ वि सो जणो सुहओ ॥ २९ ॥

यद्यपि सविशेषदर्शनमितरसमक्षं न तीर्यते कतुंम् ।

तथापि समूहालम्बनविषयोऽपि सः जनः सुभगः ॥ २९ ॥

(विचार कर) और यद्यपि अन्य व्यक्तियों के बीच में इस प्रकार विशेष दर्शन करना सम्भव न होगा, फिर भी समूह में स्थित होकर उसका नेत्रों को दिखलाई पड़ना भी बड़ा मनोहर रहेगा ॥ २९ ॥

(क्षणमन्तमनीभूय)

विष्णाणं बहुआलं णिसेविबं जं मए पञ्चतेण ।

तं अज्ज वल्लह-जणालोभणजणअत्तणेण फलिअं मे ॥ ३० ॥

विज्ञानं बहुकालं निषेवितं यन्मया प्रयत्नेन ।
तदद्य वल्लभजनालोकनजनकत्वेन फलितं मे ॥ ३० ॥

(कुछ क्षण अन्तर्मुखवृत्ति में होती हुई) मैंने कई वर्षों तक प्रयत्नपूर्वक जिस (साहित्य) विद्या का सेवन किया था, आज अपने इष्ट प्रिय के दर्शन करवाने के कारण वही मुझे फल इती बन गयी है ॥ ३० ॥

माधविका—एसो महाराओ । इबं देवी रूअलेहा । ता उपसप्पदु
पिअसही ।

शृङ्गारमञ्जरी—(राजानमवलोक्य । स्वगतम्)

जह वि ण संगो सुलहो दिदुस्स प्पढ़ममज्ज वा अस्स ।

तह वि ममन्मि वि राओ अत्थ इमस्सत्ति चिठ्ठुदि विसेसो ॥ ३१ ॥

(मालविकाहस्तावलम्बमुन्मुच्य । उपसृत्य)

जेदु जेदु देवी ।

एष महाराजः । इयं देवी रूपलेखा । तदुपसर्पतु प्रियसखी ।

यद्यपि न सङ्गः सुलभो दृष्ट्य प्रथममद्य वा अस्य ।

तथापि मयि अपि रागोऽस्त्यस्येति निष्ठति विशेषः ॥ ३१ ॥

जयतु जयतु देवी ।

माधविका—ये महाराज हैं, ये महारानी रूपलेखा हैं । प्रिय सखी इनके पास चलो ।

शृंगारमंजरी—(राजा को देखकर । स्वगत) यद्यपि आज ही प्रथम बार देखे गये इनका मिलन सुलभ नहीं है फिर भी इनका मुझ पर जो अनुराग हो रहा है यह एक विशेष सृक्ष को बात है ॥ ३१ ॥

(माधविका के हाथ को छोड़कर सम्मुख आती हुई) महारानी की जय हो ।

देवी—एदाणं विवाए मञ्जस्त्था भविम जहत्थं भणिस्ससि ।

शृङ्गारमञ्जरी—जं देवी आणवेदि । (इति राजाभिमुखमवलोक्य
उपविशति)

राजा—(स्वगतम्) हंत, अणुगहिंओ ह्यि मम्महेण ।

अहिअ-विविसिएर्हि ईसगुच्छीकएर्हि
 अहिमुहवलिएर्हि दोपरावद्विएर्हि ।
 रहसतरलिएर्हि विभ्रमाधुम्मर्हि
 वरअणुणअणेहि जं णिवीओ इम्मर्हि ॥ ३२ ॥

एतयोविवादे मध्यस्था भूत्वा यथाथं भणिष्ठसि । यद्वेवी आज्ञा-
 पयति । हन्त अनुगृहीतोऽस्म मन्मथेन ।

अधिकविकसिताभ्याम् ईषदगुच्छीकृताभ्याम् अभिमुखवलिताभ्यां
 द्विपरावर्तकाभ्याम् । रभसतरलिताभ्यां विभ्रमाधूणिताभ्यां वरतनुनय-
 नाभ्यां यन्निपीतः आभ्याम् ॥ ३२ ॥

रानी—इन दोनों के विवाद में मध्यस्थ होकर उचित निर्णय (तुम्हें)
 देना होगा ।

श्रृंगारमंजरी—जैसी महारानीजी की आज्ञा । (महाराज को ओर मुँह
 रखकर देखती हुई बैठ जाती है ।)

राजा—(स्वगत) ओह ! मदन ने (आज) मुझ पर बड़ा ही अनुग्रह
 किया है । क्योंकि—अतिशय विकसित होने वाले, कुछ-कुछ ज्ञवेदार आकृति लिये
 हुए, मेरी ओर हो जाने पर थोड़े सिकुड़ कर दोनों ओर धूम जाने वाले, भय से
 चंचल हो जाने वाले और श्रृंगारलीला से युक्त गति को प्रदर्शित करने वाले इस
 सुन्दर के दोनों नेत्रों से मैं पूर्णतः पान किया जा रहा हूँ ॥ ३२ ॥

देवी—(स्वगतम्) चिरआलं एदाणं एककदेसावत्याणं दाव अम्हाणं
 अणुइअं । जदो,

पुब्वं वि दंसणलवेण विविजिदाणं
 अम्हाणं कि पि अणुरोहवसीकिदाणं ।
 एदाण तिक्ख-मइ-मेत्त-विबोहणिज्जो
 अण्णारिसो फुरइ णेत्त-जुअ-प्पआरो ॥ ३३ ॥

(प्रकाशम्) अज्जउत्त, एवेहि वाव कीरउ विवाओ । अहं उण अज्ज-
उत्तेण आणत्ता अज्जउत्तेण सह भवदो मम्महस्स पूअणे पवद्विस्सं ।

राजा—(स्वगतम्)

जस्स कए आआसो एत्तिअमेत्तो कओ त्थि अम्हेर्हि ।
तं सब्बं अणुहूं विरमउ वा होउ वा वाओ ॥ ३४ ॥

(प्रकाशम्) एब्बं होउ । जहा देवी आणवेदि ।

चिरकालमेतयोरेकदेशावस्थानं तावदस्माकमनुचितम् । यतः पूर्वमपि
दर्शनलबेन विवर्जितयोः अस्माकं किमपि अनुरोधवशीकृतयोः । एतयोः
तीक्ष्णमतिमात्र-विवोधनीयः अन्याद्वशः स्फुरति नेत्रयुग्मचारः ॥ ३३ ॥

आर्यपुत्र, एताभ्यां तावत् क्रियतां विवादः । अहं पुनरार्यपुत्रेणाज्ञसा
आर्यपुत्रेण सह भगवत्तः मन्मथस्य पूजने प्रवर्तिष्यामि । यस्य कृते आयासः
एतावन्मात्रः कृतोऽस्त्यस्माभिः । तत् सर्वमनुभूतं विरमतु वा भवतु वा
वादः ॥ ३५ ॥

एवं भवतु । यथा देवी आज्ञापयतु ।

रानी—(स्वगत) इन दोनों का बहुत समय तक एक साथ रहना मुझे
अच्छा या उचित नहीं दिखलाई दे रहा है; क्योंकि इस समय इन दोनों के पहले
पारस्परिक दर्शन न होने और मेरे ही अनुरोध पर दायित्व को संभालने वाले
(इन दोनों को) नेत्रों की जो पारस्परिक गति है, वह कुछ ऐसे विलक्षण
अनुराग से युक्त लग रहो है जो बहुत बारीकी से लक्षित होने योग्य है ॥ ३३ ॥

(प्रकट) आर्यपुत्र, इन दोनों का विवाद चलते रहने दीजिये पर मैं अब
आर्यपुत्र से अनुमति पाकर आपके साथ ही भगवान् मदन की पूजा में लगना
चाहती हूँ ।

राजा—(स्वगत) जिसके (दर्शन) के लिए मैंने इतना आयास किया उसका
अनुभव मैं प्राप्त कर चुका । अब चाहे बाद चले या बन्द हो जाए ॥ ३४ ॥

(प्रकट) ऐसा ही हो । जो महारानी की आज्ञा हो ।

माधविका—देवि, सज्जाइं मम्महपूओवअरणाइं ।

देवि—ता जाव तहा करेमि । (इति तथा नाट्यति)

राजा—(विलोक्य)

पाणिअलेण समप्पिअ तुए असोअस्स वल्लहे दिष्णे ।

उवहृविवेममुद्धो खणमेत्तं मम्महो वृत्तो ॥ ३५ ॥

देवि, सज्जानि मन्मथपूजोपकरणानि । तद् यावत्तथा करोमि ।

पाणितलेन समर्थं त्वया अशोकस्य वल्लभे दत्ते ।

उपहृतविवेकमुख्यः क्षणमात्रं मन्मथो वृत्तः ॥ ३५ ॥

माधविका—महारानीजी, मगवान् मदन के अर्चन की सामग्री तैयार है ।

रानी—तो मैं अब वैसा ही करती हूँ । (वैसा ही करने लगती है)

राजा—(देखकर) प्रिये, तुम्हारे द्वारा अपने हाथों से जब अशोक के पुष्पों को मदन को अपित किया गया तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मदन भी क्षणभर विवेक खोकर मानो मूढ़-सा हो गया है ॥ ३५ ॥

अविअ—

जीआ-कुंतलसंचएण विसिहा जेत्तेहिं चावं मुहं

भोएणं मलभाणिलो सुरहिणा जीसासवाएण अ ।

जीआ बालमलच्छि संसअपदं कामस्स एदे तुए

कि वा किज्जदि जंपिदेण बहुणा सा वा रई अप्पणा ॥ ३६ ॥

अपि च—ज्याकुन्तलसञ्चयेन विशिखा नेत्राभ्यां चापं मुखाभ्योजेन
मलयानिलः सुरभिणा निःश्वासवातेन च । नीता बालमृगाक्षि संशयपदं
कामस्य एते त्वया कि वा क्रियते जल्पितेन बहुना सा वा रत्तिरात्मना
॥ ३६ ॥

और—बालमृग के समान नेत्रों वाली है प्रिये, मदन के घनुष की डोरी
तुम्हारे केशपाशों से, उसके बाण तुम्हारे नेत्रों से, उसका घनुष तुम्हारे मुख-
कमल से, मलय का /सुगन्धित पवन तुम्हारे निश्वासों से संशय में ढाला जा चुका

है । इसलिए इस समय अधिक कहने से क्या तुम अपने इस स्वरूप से स्वयं ही रति हो रही हो ॥ ३६ ॥

वसन्ततिलका—तस्स अ दुवे भेआ । संजोओ विष्पलंभो अ त्ति ।

विदूषकः—केरिसे ते ।

वसन्ततिलका—जत्थ णाइआ-णाइआ अण्णोण्णफंसदंसणादि अणुहोंति सो पढ़मो । जत्थ अ अण्णवरं ण पावीअदि सो बीओ ।

विदूषकः—बीओ खु णिव्वेअ-जडदा-वाहिप्पमुहभावभावणिज्जो कधं रइजणओ त्ति ।

वसन्ततिलका—तत्थ वि अणुहवत्थप्पमाणो रइविसेसो ।

विदूषकः—(स्वगतम्) णिवुतं खखु मह विवाअ-प्पओअणं । ता अलं एदिणा प्पमासेण । (प्रकाशम्) ण तुए सह जंपिस्सं ।

वसन्ततिलका—कि त्ति ण जंपसि ?

विदूषकः—तुह भंगे वि पदिहुविरहेण ।

श्रुङ्गारमङ्गरी—सहि, पज्जत्तो अस्स णिगहो उत्तरस्स अफ्कुरणेण ।

विदूषकः—(राजानमुहिश्य) भो वअस्स, जं मए तुमं परिहरिज अण्णो मज्जत्यो कारिओ तस्स एवं पज्जवसाणं बुत्तं ।

राजा—(स्वगतम्) ईरिसं खखु पज्जवसाणं तस्स । जदो,

मग्गाइँ दो वि णअणाइँ सुहासरम्मि
अंगं प्पहिण्णपुलअंकुर-दंतुरं मे ।
अप्पा वि जेण जणिओ अणुहूअबह्मा-
णंदो व्व सब्ब-विसअंतर-णाण-सुण्णो ॥ ३७ ॥

(प्रकाशम्) वअस्स, अद्वाणाहिणिवेसस्स एवंप्पा आ परिणामा होंति ।

तस्य च द्वौ भेदो । संयोगः विप्रलम्भइचेति । कीहरो ते । यत्र नायिका-
नायको अन्योन्यस्पर्शदासंनादि अनुभवन्ति सः प्रथमः । यत्र चान्यतरं न

प्राप्यते सः द्वितीयः । द्वितीयः खलु निर्वेद-जडता-व्याधि-प्रमुखभाव-
भावनीयः कथं रतिजनक इति । तत्राप्यनुभवाथं प्रमाणो रतिविशेषः ।

निर्वृत्तं खलु मम विवादप्रयोजनम् । तदलमेतेन प्रयासेन । न त्वया
सह जल्पिष्यामि । किमिति न जल्पसि । तब भङ्गेऽपि प्रतिष्ठाविरहेण ।
सखि, पर्याप्तोऽस्य निग्रहः उत्तरस्यास्फुरणेन ।

भो वयस्य, यन्मया त्वां परिहृत्यान्यो मध्यस्यः कारितस्तस्य एतत्
पर्यवसानं वृत्तम् ।

ईदृशं खलु पर्यवसानं तस्य । यतः

मने द्वे अपि नयने सुधासरसि अङ्गं प्रभिन्नपुलकाङ्क्षरदन्तुरं मे ।
आत्मापि येन जनितः अनुभूतव्रह्मानन्द इव सर्वविषयान्तरज्ञानशून्यः ॥३७॥

वयस्य, अस्थानाभिनिवेशस्यैवं प्राप्याः परिणामा भवन्ति ।

वसन्ततिलका—उस शृङ्गार-रस के दो प्रकार होते हैं । एक संयोग और
दूसरा विप्रलम्भ ।

विदूषक—वे कैसे होते हैं ?

वसन्ततिलका—जहाँ नायिका और नायक परस्पर स्पर्श, दर्शन आदि का
अनुभव करते हैं उसे प्रथम अर्थात् संयोग और जहाँ एक को दूसरे की प्राप्ति न
हो उसे द्वितीय अर्थात् विप्रलम्भ कहा जाता है ।

विदूषक—यह द्वितीय या विप्रलम्भ नामक प्रकार जब निर्वेद, जडता तथा
व्याधि जैसे प्रमुख (संचारी) भावों से भावित होता है तो फिर इससे 'रति' की
उत्पत्ति कैसे होती होगी ।

वसन्ततिलका—वहाँ ऐसी दशा में होने वाली विशेष स्थिति वाली रति के
हो जाने में (सहृदयों का) अनुभव ही प्रमुख प्रमाण माना जाता है ।

विदूषक—(स्वगत) मेरे विवाद का प्रयोजन अब पूर्ण हो चुका इसलिए
और अधिक प्रयास क्यों किया जाए । (प्रकट) अब मैं इसके आमे तुझसे कुछ
भी कहना नहीं चाहता ।

वसन्ततिलका—आप क्यों कर कहना नहीं चाहेंगे ?

विदूषक—क्योंकि बाद मैं तुम्हें पराजित करने पर भी मुझे कोई प्रतिष्ठा प्राप्त
नहीं होगी ।

शृंगारमञ्जरी—सखि, उत्तर के न देने से तो इसी का निश्रह (पराजय) हो चुका ।

विदूषक—अरे मित्र, मैंने तुम्हें छोड़कर जो अन्य को मध्यस्थ बनाया उसका यह परिणाम निकला ।

राजा—(स्वगत) इसका परिणाम तो सचमुच निकल चुका ही है । क्योंकि मेरे दोनों नेत्र असूत सरोवर में मग्न हुए, मेरा अंग रोमाञ्च से पूर्ण हो रहा है और ब्रह्मानन्द के अनुभव की दशा में अन्य विषयों के स्पर्श ज्ञान की शून्यता के समान मेरी अन्य वोध में शून्यता उत्पन्न हो गयी है ॥ ३७ ॥

(प्रकट) मित्र, अधिक रूप में अस्थान पर अभिमान करने का ऐसा ही फल मिलता है ।

देवी—(शृङ्गारमञ्जरीमुहित्य) सहि, णिप्फण्णं ते एत्थ आअ-भणफलं । ता एहि पढ़मुहित्तुं कीरज ।

शृङ्गारमञ्जरी—(स्वगतम्) कि णाम णिप्फण्णं । जदो,

संकावसुम्भुष्ठिवएहि महब्भुएण
विफकारिएहि णअणेहि पिओ वि दिट्टो ।
अण्णं च तेण वि सिणेह-विलक्खणेहिं
छित्त म्हि केहि वि विलोअण-विवभमेहिं ॥ ३८ ॥

सखि, निष्पन्नं तेऽत्रागमनकलम् । तदिदानीं प्रथमोद्दिष्टं क्रियताम् ।

कि नाम निष्पन्नम् । यतः, शङ्कावशोन्मीलिताभ्यां महाद्धुतेन विस्तारिताभ्यां प्रियोऽपि हृष्टः । अन्यच्च तेनापि स्नेहविलक्षणैः स्पृष्टास्मि कैरपि विलोचनाविभ्रमैः ॥ ३८ ॥ यदेवी आज्ञापयति ।

रानी—(शृंगारमञ्जरी से) आपको यहाँ बुलवाने का उद्देश्य पूर्ण हो चुका है इसलिये आप अपने पूर्व निर्वारित कायों को बब कर सकती हैं ।

(प्रकाशम्) जं देवी आणवेदि । (इति निष्क्रान्ता)

(देवीगजानो कुसुमैरञ्जलि पूरयित्वाऽन्योन्यपूजनमभिनयतः)

राजा—(स्वगतम्)

एष्णह च सा मयण-विभम-कल्पवल्ली

मोत्तूण णेत्तविसां चलिआ खणेण ।

एष्णह च रोस-कलुसीकिद-कामवाण-

संघोब्ब्र पुफकणिअरो पडिओ ममन्मि ॥ ३९ ॥

इदानीं च सा मदनविभ्रमकल्पवल्ली मुक्त्वा नेत्रविषयं चलिता थणेन ।

इदानीं च रोषकलुषीकृतकामवाणसंघ इव पुष्पनिकरः पतितः मयि ॥ ३९॥

शृङ्गारमङ्गरी—(स्वगत) मेरा कौन-सा उद्देश्य पूर्ण हुआ । क्योंकि—एक और तो मैंने आशंका से खुले हुए तथा अद्भुत भाव के कारण खिले हुए अपने नेत्रों से प्रिय का अवलोकन किया और दूसरे उसने भी विलक्षण अनुराग से पूर्ण किन्हीं अवर्णनीय अनुराग-चेष्टाओं से पूर्ण दृष्टि से मुझे स्पर्श किया ॥ ३८ ॥

(प्रकट) जैसी महारानीजी की आज्ञा । (जाती है)

(महारानी और महाराज अपनी अंजलि में पुष्पों को भरकर एक-दूसरे को अपर्ण करते हुए अर्चना करते हैं)

राजा—(स्वगत) मदन के विलासों को कल्पलता-सी वह प्रिया इस समय मेरी दृष्टि के मार्ग से हटकर शोष्ण हो यहाँ से (अन्यत्र) चली गयी है और (इधर) यह पुष्पों का ढेर मुझ पर क्रोध से कलुषित होने वाले कामदेव को बाणराशि-सा गिर रहा है ॥ ३९ ॥

(प्रकाशम्) देवि,

एष्णह सुंदरसिंदुवारमउलंतब्मूअ-मुत्ताहला

पुफकेहि पुण वंजुलस्स विउणीहीतच्छरत्तोवला ।

णिफकंदंत-द्वरेहतुंदिलमहाणुदेव-णीलावली

भोदी रेहइ वीरुद व्य अवरा अच्छेर-संजीवणी ॥ ४० ॥

देवि, इदानीं सुन्दरसिन्दुवारमुकुलान्तभूतमुक्ताफला पुष्पैः पुनः
वञ्जुलस्य विगुणीभवदच्छरक्षोपला । निस्पन्दद्विरेफतुन्दिलमहान्तुन्नेन्द्र-
नीलावली भवती राजते वीरुदिव अपरा आश्चर्यसञ्जीवनी ॥ ४० ॥

(प्रकट)

महारानीजी, आप इस समय सिन्धुवार पुष्प की सुन्दर कलिकाओं में भोती के
सरों का बीच में समावेश किये जाने से सुन्दर और अशोक पुष्पों सी स्वच्छ और
माणिक्य को मलिन बनाने वालों निस्पन्द मधुकरों की लम्बी कतार-सी होकर
इन्द्रनीलमणि जैसी दिखलाई देने से दूसरो सखोवनो-लतिका के समान प्रतीत हो
रही हो ॥ ४० ॥

(नेपथ्य)

णीओ जेण पिआमहो चि तणआ-तण्हाइ दुठुत्तणं
आहीरी-आहरामअ-द्वरुई जेण किदो केसबो ।
रुद्धो जेण मुर्णिद-वंद-घरिणी-मगंतरो णिम्मिओ
तुम्हाणं भअवं प्पसूणविसिहो सो होउ सोकखावहो ॥ ४१ ॥

देवी—ता अजजउसो अलंकरेदु प्पासाअ-अलं ।

राजा—जहा देई आणवेदी ।

(इति परिक्रम्य निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति द्वितीयं यवनिकान्तरम् ॥

नीतो येन पितामहोऽपि तनयातृष्णया दुष्टत्वम् आभीर्यधरामृतद्रव-
रुचिः येन कृतः केशवः । रुद्धो येन मुनीन्द्रवृन्दगृहिणीमार्गान्तरो निर्मितः
युष्माकं भगवान् प्रसूनविशिखः स भवतु सौख्यावहः ॥ ४१ ॥

तदार्थंपुत्रः अलङ्करोतु प्रासादतलम् । यथा देवयाज्ञापयति ।

(नेपथ्य में)

जिसने पितामह शहूदेव को वासना की वृद्धि करवाकर अपनी कन्या की
तृष्णा से पतित बनाया, जिसने श्रोविष्णु की गोपिकाओं के अधरामृत के द्रव

(पान) में खंचि करवायी और जिसने श्रीशंकर को मुनिपत्नियों के मार्गण में अभिमुख करवाया वही भगवान् मदन आपको सौख्यकारी बने ॥ ४१ ॥

रानी—तो अब आर्यपुत्र भी राजभवन के ऊपरी भाग को अलंकृत करें ।

राजा—जैसी महारानी की आज्ञा ।

(घूमकर सभी जाते हैं)

द्वितीय यवनिकान्तर समाप्त ।

[अथ तृतीयं यवनिकान्तरम् ।]

(ततः प्रविशति राजा विदूषकश्च)

राजा—वअस्स, दिदिठआ ते उवक्कमो फलाणुबन्धी संवृत्तो ।

विदूषकः—अहो विसमो पेम्मपरिणामो । जदो,

गणेति इदृठदंसंणिदं भत्तिपरितावं ।

खणमेत्तसुहाए तत्थ सकामं पवद्वंति ॥ १ ॥

वयस्य, दिष्ट्या ते उपक्रमः फलानुबन्धी संवृत्तः ।

अहो विषमः प्रेमपरिणामः । यतः—न गणयन्ति इष्टदर्शनितं भक्ति-परितापम् । क्षणमात्रसुखाय तत्र सकामं प्रवर्तन्ते ॥ १ ॥

(राजा और विदूषक का प्रवेश)

राजा—मित्र, सीभाग्यवश तुम्हारा उद्योग सफल हो गया ।

विदूषक—अरे प्रेम का फल सदा ही विपरीत होता है । क्योंकि—प्रेमी पुरुष प्रियदर्शन से होने वाले उसके विरह-दुःख की परवाह नहीं करते । वे केवल क्षणिक सुख की अपेक्षा से अभिलापा में ही प्रवृत्त रहा करते हैं ॥ १ ॥

राजा—वअस्स, कि एवं कहीअदि । जदो,

एकावेकखणमेत्तां पि परमं मणिंति रज्जाहिअं

अण्णोणेण विलोअणं पुण सुहा-सोअस्सईमज्जणं ।

उद्गाढ़-प्रणाणाणुबन्धरइअं दोकंदलीबन्धणं

बम्हेकत्तण-भावणा उवणदं आणंदकंदं परं ॥ २ ॥

वयस्य, किमेवं कथ्यते । यतः,

एकावेकणमात्रकमपि परमं मन्यन्ते राज्याधिकम् अन्योन्येन विलोकनं
पुनः सुधास्त्रात्स्वती-मज्जनम् । उद्गाढप्रणाणानुबन्धरचितं द्विकन्दलीबन्धनं
ब्रह्मेकत्वभावनोपनतम् आनन्दकन्दं परम् ॥ २ ॥

राजा—मित्र, तुम ऐसा क्यों कह रहे हो। क्योंकि—प्रेमी तो एक-दूसरे के दर्शनमात्र को राज्यप्राप्ति की अपेक्षा अधिक अच्छा समझता है तो फिर पारस्परिक दर्शन तो अमृतनिर्झरणी में ऐसा स्नान जैसा है, जो अतिशय धने प्रेम-रज्जुओं से दो अँकुरों के वन्धन के समान ब्रह्मैकत्व भावना से निर्मित आनन्दकन्द-सा है॥२॥

अविभ—

वहंतु विवुहा मुहा सुहिवदं सुहासाहिअं
वरंतु अ चओरआ चरिअ-चंदिआ चंदिअं ।
मए उण वरंगणा तणु तरंगणा जं किदा
ण उव्वरिअमणां उवरि किपि सोक्लं इदो ॥३॥

अपि च—वरन्तु विवुधा मुधा सुखिततां सुधासाधितां वृन्तु च
चकोरका चरितचन्द्रिका चन्द्रिकाम्। मया पुनर्वराङ्गना तनुतराङ्गना
यत् कृता न उर्वरितमन्यकमुपरि किमपि सौख्यमितः ॥३॥

तथा—देवगण अमृतपान से प्राप्त होने वाली सुख-परम्परा को चाहे व्यर्थ ही धारण करते रहें और चन्द्रिका में धूमते हुए चकोर चाहे उसीका वरण करें परन्तु मैं तो कृशाङ्गी तथा सुन्दरी अंगना के निर्माण से अधिक किसी सुन्दर पदार्थ में उत्कृष्ट सुख नहीं देखता हूँ॥३॥

विदूषकः—वअस्स, एत्तिअं उण अपज्जतं मण्णामो ।

अणोण्ण-गोअर-सिणेह-समिद्धकाम-
बाणप्पहार-परिज्जरमाणसेहिं ।
तुम्हेहि अणजण-संणिहिजंतिएहि
तण्हाणुरूभमकिअं अवलोअणं जं ॥४॥

वयस्य, एतावत् पुनरपर्याप्तं मन्यामहे ।

अन्योन्यगोचरस्नेह-समिद्धकाम-बाणप्रहारपरिज्जरमानसाभ्याम् ।

युवाभ्यामन्यजनसन्निधियन्त्रिताभ्यां तृष्णानुरूपमकृतमवलोकनं यत् ॥४॥

विदूषक—मित्र, इतना मानना मैं पर्याप्त नहीं समझता। क्योंकि—पारस्परिक दर्शन से उत्पन्न अनुराग से प्रज्वलित हो जाने वाले काम-बाणों के प्रहार से जर्जर चित्तवाले तुम दोनों के द्वारा किन्हीं अन्य जन के सान्निध्य से नियन्त्रित रहने के कारण अपनी इच्छा के अनुरूप एक-दूसरे का अवलोकन नहीं किया गया ॥ ४ ॥

राजा—वअस्स, मा एवं भण । जदो—

बीसंभसंभवविदंभ-विजिभिएहि
संदंसणेहि अबुह क्षु सुहं वहंति ।
छेआ उणो इअर-दंसण-तुल्ल-काल-
उम्मिल्ल-विभभम-विसेस-विलोअणेहि ॥ ५ ॥

वयस्य, मैवं भण । यतः विस्मभसम्भवविजूम्भतैः सन्दर्शनैरबुधाः
खलु सुखं वहन्ति । छेकाः पुनरितरदर्शनतुल्यकालोन्मीलद्विभ्रमविशेष-
विलोकनैः ॥ ५ ॥

राजा—मित्र, ऐसा मत कहिये । क्योंकि—

विश्वास के अतिशय बढ़ने पर प्रकट होने वाले दर्शन से तो सुख का अनुभव मूढ़जन ही प्राप्त कर लेते हैं किन्तु चतुर जन दूसरों के देखने के समय ही प्रकट होने वाली विशेष प्रकार की विलासपूर्ण चेष्टाओं से उत्पन्न विशिष्ट अवलोकन से ही सुख का अनुभव करते हैं ॥ ५ ॥

विदूषकः—भो वअस्स, वसंततिलआसंदेसं धारेमि ।

राजा—तदो मुहुत्तमेत्तं सोत्ताइं आणंदेहि ।

विदूषकः—जदों पहुदि तुम्हाणं अणोणदंसणणिव्वुद-हिअआणं
दढ़अराणुराथंकुरुभेदो विअडु-सेहरभूगाए देवीए लक्षिदो तदो पपहुदि
सिंगारमंजरीए सविसेसं रक्खा समाढत्ता । वसंततिलआए वि मए समं
समाअमो पडिसिद्धो ।

राजा—तुम्हाणं मिलण-णिसेहस्स को अहिप्पाओ ?

विदूषकः—तुम्हाणं दोणं पि संगम-प्पउत्ता मा होंतु त्ति ।

राजा—तहा संजाद-परुष्पराहिक्खेव-बहल-कलहाणं पि तुम्हाणं कथं
तारिसी आसंका ।

विदूषकः—जदो तस्स कलहस्स तुम्हाणं अणोण्णदंसणत्थआ देवीए
णिणीदा ।

राजा—अम्हाणं पडिउलं देवीए जइवि चेड्हिअं एअं ।

तह वि अइदुगगहासअविण्णाणकअं हरइ चित्तं ॥ ६ ॥

(विचिन्त्य) अहो विहिणो विश्वदा ।

अंसे जेत्तिअमेत्ते कहंपि किज्जइ णिबंधाणं किपि ।

णवरि तदो अइमेत्तं णिम्माइ सुदुल्लहत्तणं सहसा ॥ ७ ॥

तदो तदो ।

भो वयस्य, वसन्ततिलकासन्देशं धारयामि । ततो मुहूर्तंमात्रं श्रोत्रे
आनन्दय । यतः प्रभृति युवयोरन्योन्यदर्शननिवृत्तहृदययोः हृदतरानुरा-
गाङ्गुरोङ्गेदः विदरवशेखरभूतया देव्या लक्षितस्ततःप्रभृति शृङ्गार-
मञ्जर्याः सविशेषं रक्षा समारब्धा । वसन्ततिलकाया अपि मदा समं
समागमः प्रतिषिद्धः ।

युवयोमिलननिषेधस्य कोऽभिप्रायः ? युवयोद्योरपि सञ्जमप्रवृत्तो
मा भवतामिति । तथा सञ्जातपरस्पराधिक्षेपवहलकलहयोरपि युवयोः
कथं ताहश्याशञ्जा ?

यतस्तस्य कलहस्य युवयोरन्योन्यदर्शनार्थता देव्या निर्णीता ।

अस्माकं प्रतिकूलं देव्या यद्यापि चेष्टिमेतत् । तथाप्यतिदुर्ग्रहाशय-
विज्ञानकृतं हरति चित्तम् ॥ ६ ॥

अहो विधेः विश्वदा । अंशे यावन्मात्रे कथमपि क्रियते निवन्धनं
किमपि । केवलं ततोऽतिमात्रं निर्मातित सुदुलभत्वं सहसा ॥ ७ ॥

ततस्ततः ।

विदूषक—मित्र, मैं वसन्ततिलका का सन्देश लाया हूँ ।

राजा—तो फिर कुछ क्षण मेरे कानों को आनन्द दीजिए ।

विदूषक—अति चतुर महारानी ने जब से आप दोनों के परस्पर अवलोकन द्वारा हृदय को शान्ति देने वाले तथा अतिशय प्रेम के अंकुर को प्रकट करने वाले कार्य को देखा है तभी से शृङ्गारमंजरी की विशेष रूप से रक्षा व्यवस्था कर दी गयी है और वसन्ततिलका से मेरा मिलना भी बन्द करवा दिया गया है ।

राजा—तुम दोनों का मिलना बन्द करवाने में क्या कारण होगा ?

विदूषक—यही कि ये दोनों आप दोनों के मिलन करवाने में लग न सकें ।

राजा—तुम दोनों में तो परस्पर कलह हो चुका था और तुम एक-दूसरे का अपमान करने पर तुले थे फिर उसने ऐसी आशंका क्यों रखी ?

विदूषक—क्योंकि उस पारस्परिक कलह के द्वारा ही दोनों का परस्पर दर्शन होने की आशंका महारानी ने की ।

राजा—यद्यपि हमारे प्रतिकूल ही महारानी ने ऐसा (यह) कार्य किया है, फिर भी किसी के मन में रहने वाली बात को जान लेने की ही मेरे मनमें अभिलापा (हो रही) है ॥ ६ ॥

(विचार करते हुए) ओह ! भाग्य की भी कैसी विपरीत स्थिति होती है । जितने अंश की पूर्ति के लिए किसी प्रकार कार्य को योजना की जाती है तो भाग्य सहसा उतने ही अंश की दुर्लभता को निर्मित कर देता है ॥ ७ ॥

अच्छा तब फिर ।

विदूषकः—अज्ज उण णिअ-णिअ-वावारासत्त-चित्ते परिअणे कहं वि
लद्धंतराए वसन्ततिलआए णिज्जणे उद्देसे मं आआरिअ भणिदं । णत्थि मे
देवीपरोक्खं महारामसंणिहि-समाअमणं । महारामदंसणसविसेसविमणा-
इआ अ पिअसही सिंगारमंजरो । जदो,

फुरइ ण परिआबो तारिसो मम्महुत्थो
दइअअण-अलाहो णिच्चिदो जाव अत्थि ।

कहृवि अहिगदाए पत्तिसंभावणाए
उण पसरइ दाहो णुक्खणं दीहुदीहो ॥ ८ ॥

अद्य पुनः निजनिजव्यापारासक्तचित्ते परिजने कथमपि लब्धान्तरया
वसन्ततिलक्या निंजने उद्देशे मामाकार्यं भणितम् । नास्ति मे देवीपरोक्षं
महाराजसन्निविसमागमनम् । महाराजदर्शनसविशेषविमनायिता च प्रिय-
सखो शृङ्गारमञ्जरी । यतः

स्फुरति न परितापस्तादृशः मन्मथोत्थः दयितजनालाभो निश्चितो
यावदस्ति । कथमप्यधिगतया प्राप्तिसम्भावनया पुनः प्रसरति दाहोऽ-
नुक्षणं दोर्घंदोर्घं ॥ ८ ॥

विदूषक—आज जब सभी सेवक अपने-अपने कार्य में लौन थे तभी वसन्त-
तिलका ने किसी प्रकार बीच में समय निकालकर एक निंजन प्रदेश में मुझे
बुलवाकर कहा—मेरा आना महारानी के परोक्ष में महाराज के पास नहीं हो
पाएगा इधर महाराज के दर्शन के बाद तभी से विशेषरूप में प्रियसखी शृङ्गार-
मञ्जरी सन्तप्त हो रही है । वर्णोक्ति—

मदन से होने वाला सन्ताप तब तक शान्त नहीं होता जब तक प्रिय की
निश्चित प्राप्ति न हो और यदि किसी तरह प्राप्ति की आशा होती भी है तो उसी
समय प्रतिक्षण बढ़ने वाला ताप और फैलने लगता है ॥ ८ ॥

जदो एदाए तदो पहुदि,

णेत्तेसुं ण हि वाह-वारि-विरहो वत्ते ण हासुगमो
अत्ये कथं वि णत्थि किपि हिअं देहे ण ताव वखदी ।
एर्गांसि पि खणे ण कि च सअणं गत्ते ण वा भूसणं
हृथ-फंस-विवज्जणं ण सिअदामोओ अ गंडत्थले ॥ ९ ॥

यत एतया ततः प्रभृति, नेत्रयोः नहि वाष्पवारिविरहो वक्त्रे न
हासोदगमः अर्थे कुत्रापि नास्ति किमपि हृदयं देहे न तावत् क्षतिः ।
एतस्मिन्नपि क्षणे न किञ्च शयनं गात्रे न वा भूषणं हर्सतस्पर्शविवज्जनं न
सितताभोगश्च गण्डस्थले ॥ ९ ॥

क्योंकि तभी से उसकी—

नेत्रों से आँसुओं की धारा बन्द नहीं हुई, मुँह पर हास्य की रेखा नहीं दौड़ी । उसका मन किसी भी बात में नहीं लगता और शरीर पर किसी प्रकार को अति नहीं दिखलाई देतो, किसी भी क्षण निद्रा नहीं और शरीर पर किसी अलंकार को धारण नहीं करती । हाथों से छूना भी सम्भव नहीं है और कपोलों पर पीलापन फैलता जा रहा है ॥ ९ ॥

अविअ—

जोष्हाए सरिसा ण होंति हरिसा णिम्माइ मम्म-क्षत्रां
पम्माणं परिकम्मणं ण पवणा ते दाहिणा दाहिणा ।
सतावे विउणा लसान्ति णिउणा वाला मुणाली-गुणा
चिक्खिलं सिरिहंडअस्स दहणे चुक्किलदं मुक्कइ ॥ १० ॥

अपि च—ज्योत्स्नया सट्टशा न भवन्ति हर्षा निर्माति मर्मक्षतं
पद्मानां परिकर्मकं न पवना ते दाक्षिणा दाक्षिणाः । सन्तापे विगुणा
लर्सान्ति निपुणा व्याला मृगालीगुणा पञ्चलं श्रीखण्डकस्य दहने च्युति-
शीलतां मुद्वति ॥ १० ॥

और भी,

चन्द्रिका को देखकर (अब) उसे आनन्द नहीं होता, कमलों की शोभा
देखकर उसे चित्त में यमन्तिक पीड़ा होती है, दक्षिण पवन उसे अनुकूल नहीं
पड़ता, अतिशय सन्ताप के कारण कमलतन्तु सर्प से प्रतीत होते हैं और शरीर पर
किया हुआ चन्दन का लेप शरीर में दाह उत्पन्न कर सूखकर हट जाता है ॥ १० ॥

अविअ—

तुसार-णिअरो तुसारणि-चरोब्ब वेसाणरो
तहा अ जल-णीलिमा मधर-केदुणा ईलिआ ।
फुरंति हिमबालुआ तविअ-बालुआ दूसहा
परं अणल-उक्करो अणल-मुक्क-रोइ-प्पहो ॥ ११ ॥

अपि च—तुषारनिकरः तुषाराणिचर इव वैश्वानरः तथा च जलनालिका मकरकेतुनागीलता । स्फुरन्ति हिमबालुकाः तापितवालुका दुःसहा परमनलोत्करः अनिलमुक्तरोगिप्रभः ॥ ११ ॥

तथा—शीतल हिमखण्ड उसे तुपरूपी अरणि से निकली अग्नि के समान जलाता है, इसी प्रकार जलनलिका उसे काम की नागिन-सी लगती है, हिमबालुका उसे तपी सिकता-सी जलाती है और मुँह से निकली हुई आग के शोले की सी गर्म सांसे किसी मृत रोगी के देह से छोड़ी गयी साँसों को तरह हो रही है ॥ ११ ॥

एवं मरणेण देवीए अ बहुविहं आआसिज्जंती वल्लह-जणपर्ति दद्वय-प्पडिबंधएण दुल्लहं चिनिअ तारिच्छं विवत्ति-उवाऽन्तरेण अपडिकरणिज्जं संभरित अलं एदारिस-कदत्थणा-सहस्स-मेत्ताणुहव-प्पओअणेण इमिणा देह-हयएण ता एदस्स णिम्मूलणेण च्चेअ दुक्खं उम्मूलइस्सं ।

अविग—

होउ मरणो कमत्यो चावादो तस्स ओअरदु जीआ ।

देवीग भोदु भद्रं घहेण से अणवराहे वि ॥ १२ ॥

एवं मदनेन देवथा च बहुविधमायास्यमाना वल्लभजनत्रासिं हृष्टतर-प्रतिबन्धकेन दुर्लभं चिन्तितवा ताहशं विपत्युपायान्तरेणप्रतिकरणीयं संभूत्यालमेताहशकदर्थनासहस्रभात्रानुभवप्रयोजकेनानेन देहृष्टकेन तदेतस्य निमूलनेनैव दुःखमुन्मूलयिष्यामि । अपि च—

मवतु मदनः कृतार्थः चापात्तस्यावतरतु ज्या ।

देव्याः भवतु भद्रं वधेन मेऽनपराधेऽपि ॥ १२ ॥

इस प्रकार मदन और महारानी से अनेक कष्ट पातों हुई उसने इन अपने दृढप्रतिबन्धों को देखकर प्रिय की प्राप्ति को दुर्लभ माना और फिर निश्चय कर डाला कि ऐसी विपत्ति को दूर करने का उपाय मृत्यु के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं हो सकता है, क्योंकि सहस्रों प्रकार के दुःखों की अनुभूति करवाने वाले इस शरीर के रखने से क्या लाभ, इसलिए ऐसे देह का विनाशकर इन दुःखों को दूर करूँगी ।

तथा— अब मदन अपने कार्य में सफल हो और उसके धनुष से चढ़ी हुई ज्या उत्तर जावे तथा विना किसी अपराध के होने वाली मेरी मृत्यु से महारानी का कल्याण हो ॥ १२ ॥

ता पिअसहि, जइ को वि ते मइ सिणेह-विसेसो अतिथ ता अत्तणो
दुक्खणिव्वावणाणुऊलादो वावारादो मं ण परावत्तेहि । इच्छामि अहं
एदिणा लतावेदुबंधणेण देहं पाणपरिच्चत्तं काउं । ता किं खणमेत्तं पि
सहिएण दुक्खंतरेण त्ति मं भणिअ तहा पउत्ता । तदो अणिरंतर-णिबडंत-
बाहुंबु-प्पवाह-दुद्दिणंधआरिअ-मुहीए मए सहि किञ्चि कालं मह वथणेण
मा एवं अहिणिवेसो करीअदु । जइ उण मं अगणिअ एवं चिअ कादुं
णिबंधं करिस्ससि तदो मए पढ़मं परिमुक्केसु जहिच्छं अणुचिद्दिस्ससि
त्ति कहं कहं पि पाएसुं लुहंतीए अस्स मुहूत्ते तदो परम्मुहूदं णीदा ।
इमेसुं च वि अहेसुं केण वि समं अणालवंती पारणावगुंठिअमुहमंडला
विरदासेसवावारा वहण-कुंड-मज्जपडिअ व्व चिद्दुदि । अज्ज उण उज्जाण-
माहवीकुडंगए महाराअ-संगमो भावि त्ति अम्हेहिं आसासिदा मवणस्स
पबलदाए असक्क-परिच्चाअदाए अ आसा-बंधस्स तह त्ति पडिवण्णवई ।
ता एदं गाहं महाराअ-सआसे पदिस्ससि—

जई को वि अणुक्कोसो गुणअरो वा सिणेहो वा ।

देवस्स अतिथ हिअर ता अणुकंपीअदु वराई ॥ १३ ॥

तत् प्रियसखि, यदि कोऽपि ते मयि स्नेहविशेषोऽस्ति तदात्मनः
दुःखनिवर्पणानुकूलाद्वयापारात् मां न परावत्तंय । इच्छाम्यहमेतेन लता-
वेष्टवन्धनेन देह प्राणपरित्यक्तं कर्तुम् । तत् किं क्षणमात्रमपि सहितेन
(सोडेन) दुःखान्तरेणेति मां भणित्वा तथा प्रवृत्ता । ततश्च निरंतरं
निपतद्वाष्पाम्बुप्रवाहुद्दिनान्धकारितमुख्या मया सखि किञ्चित् कालं
मम वचनेन मैवमभिनिवेशः क्रियताम् । यदि पुनः मामगणयित्वा एवमेव
कर्तुं निर्बन्धं करिष्यसि ततो मया प्रथमं परिमुक्षेषु प्राणेषु यथेच्छम-
नुष्ठास्यसि इति कथं कथमपि पादयोः लुठन्त्यां अस्मिन् मुहूर्ते ततः
पराङ्मुखतां नीता । एषु च दिवसेषु केनापि सममनालपन्ती प्रावरणा-

वगुणितमुखमण्डला विरताशेषव्यापारा दहनकुण्डमध्यपतितेव तिष्ठति ।
अद्य पुनः उद्यानमाधवीकुड़ज्जके महाराजसज्जमो भावीति अस्माभिराश्वा-
सिता मदनस्य प्रबलतयाऽशक्यपि त्यागतया चाशाबन्धस्य तथेति प्रति-
पन्नवती । तदेतां गाथां महाराजसकाशे पठिष्यसि ।

यदि कोऽप्यनुक्रोशः गुणादरो वा स्नेहो वा । देवस्यास्ति हृदये तदनु-
कम्प्यतां वरकी ॥ १३ ॥

इसलिए है प्रियसखी, यदि मुझ पर तुम्हारा विशेष अनुराग हो तो अपने
दुःख-शान्ति के उद्योगों से मुझे मत रोकना । मैं अब इस लता को अपने गले में
बाँधकर इस शरीर से प्राणों का त्याग करना चाहती हूँ । इसलिए क्षण भर भी
ऐसे दुःखों को सहन करने से क्या लाभ होगा, ऐसा मुझे कहकर वह वैसा ही
करने लगी । फिर निरन्तर वहने वाले अथुप्रवाहरूपी पावस के दुदिन के
अन्धकार से युक्त मुँह से मैंने उसे कहा—‘सखि, मेरे कहे को मानकर कुछ
समय तक अपनी ऐसी हठ बन्द रखो । और मेरी परत्राह न कर इसी प्रकार
हठ रखना ही हो तो पहिले मुझे अपने प्राणों को त्यागने दो, फिर तुम अपनी
इच्छा पूरी कर लेना’ ऐसा कहकर उसके चरणों में गिरकर उसे अपने उद्योग
से किसी प्रकार हटाया ।

अब वह इन दिनों किसी के साथ अधिक नहीं बोलती है और अपने मुँह को
किसी पर्दे से छुपाती हुई तथा अपनी चेष्टाओं और कायें को बन्द रखती हुई
अग्निकुण्ड में पड़ी हुई सी जलते हुए वह वहाँ रह रही है ।

केवल आज जब मैंने उसे यह आश्वासन दिया कि उपवन में स्थित माधवी-
लता के कुंज में तेरी महाराज से भेट होगी तो एक तो मदन की प्रबलता के
कारण और दूसरे अपने आशाबन्ध को त्याग करने में असमर्थतावश उसने भी—
‘अच्छा स्वीकार है’ ऐसा कहकर मान लिया है । फिर उसने कहा कि इस गाथा
को पढ़कर महाराज को सुना देना—

यदि महाराज के हृदय में कोई दया, गुणों के प्रति आदर या स्नेह हो तो इस
अभागिन पर कृपा करना ॥ १३ ॥

अवि अ पिगसहीए वि अहं एवं उत्ता वहलं ते उअरदाए समा-
गओ हि ।

राजा—अवि बंदित्तण-गहिआ गअहिआ इंदिएहि परिहीणा ।

ण परिच्छअंति जीअं ण उण विउणाविणो ण दूमेत्ता ॥ १४ ॥

(नेपथ्ये)

संरज्जंत-मलीमसंत-जलगिव्वाणाहिवासामुहो

उप्फुल्लंत-गुलुच्छअंत-कुमुअंभोआवली-काणणे ।

एसो कंत-परम्मुहाहिमुहदा-संपादि-मोआवली

चक्काई-अहिसारिओ पअडदं जाओ पओस-क्खणो ॥ १५ ॥

अपि च प्रियसख्याप्यहमेवमुक्ता-छछलं तस्यामुपरतायां समागतोऽस्मि ।

अपि बन्दित्वगृहीता गतद्विजा इन्द्रियैः परिहीना । न परित्यजन्ति
जोवं न पुनः विगुणिता न दावयिता (?) ॥ १४ ॥

संरज्यमान-मलिनायमान-जलगीवर्णाविपाशामुखः

उत्पुल्लद्गुलुच्छयमानकुमुदाभ्मोजावलो-काननो ।

एषः कान्तपराङ्मुखाभिमुखतासम्पातिमोचावली-

चक्रवाक्यभिसारिकः प्रकटतां यातः प्रदोषक्षणः ॥ १५ ॥

और इसी प्रकार प्रियसखी ने मुझे बार-बार इसी तरह कहा । उसको इस
बात को सुनने के बाद मैं वहाँ से यहाँ चला आ रहा हूँ ।

राजा—जब बन्दी बनाकर पकड़े हुए और दाँतों के गिरने से बृद्ध और
इन्द्रियों के विकल होने से हीन व्यक्ति भी अपना प्राण त्यागना नहीं चाहते और
गुण के विपरीत भाव को कष्ट में आ जाने पर भी प्राप्त नहीं होते हैं ॥ १४ ॥

(नेपथ्य में)

जो वर्ण तथा इन्द्रदेव की दिशाओं के मुखोंको क्रमशः रक्त और मलिनवर्ण
बनाता है, चन्द्र-किरणों से प्रस्फुटित होने वाले तथा सूर्य-किरणों से विकसित होने
वाले कुमुद एवं कमलों को क्रमशः विकसित और संकुचित करता है, जो चक्रवाकी
को प्रिय की अनुकूलता और प्रतिकूलता के द्वारा अभिसरण में लगवाने वाला
होता है वही प्रदोषकाल अब प्रकट हो चुका है ॥ १५ ॥

विदूषकः—(आकण्डं) वअस्स, अलं विलंबेण ।

तुह संगम-न्तर्णहाए संकेअ कुडंगअं पत्ता ।

अणहिगअ-वल्लह-जणा वणुहोउ ण जीअ-मोक्षं सा॥१६॥

राजा—ता आदेसेहि संकेत-मग्गं ।

विदूषकः—इदो इदो एडु भवं । (इत्युभौ परिक्रामतः ।)

राजा—(विलोक्य)

भिगावलो-फुरिअ-अद्व-णिबद्ध-मुद्द-

पम्मंतराहिसमअं चिअ णिकमंती ।

अंभोरुहाकिदि-समुग्रअ-मज्जदेसा

आअद्विद्वा विमलचंपअ-मालिअव्व ॥ १७ ॥

वयस्य, अलं विलम्बेन । तव सङ्गमतृष्णया सङ्क्षेतकुडङ्कं प्राप्ता ।
अनधिगतवल्लभजनानुभवतु न जीवमोक्षं सा ॥ १६ ॥

तदादेशय सङ्क्षेतमार्गम् । इतः इतः एतु भवान् ।

भृङ्गावलो स्फुरिताधर्निवद्धमुद्रपद्मान्तरात् हि समकमेव निष्क्रमन्ती ।
अम्भोरुहाकृतिसमुदगतमध्यदेशा आकर्षिता विमलचम्पकमालिकेव ॥१७॥

विदूषक—(सुनकर) तो मित्र, अब देर मत कीजिये । क्योंकि—जब आपसे मिलने की उत्कट अभिलाषा को लिये हुए आपकी प्रिया संकेत-स्थान के कुंज में अपने प्रिय को प्राप्त नहीं करेगी तो उसे अपने प्राणत्याग-सी व्यथा का अनुभव नहीं होना चाहिए ॥ १६ ॥

राजा—अच्छा, तो संकेत कुंज का मार्ग बतलाओ ।

विदूषक—आप इधर से आइये, इधर से । (दोनों धूमते हैं)

राजा—(देखकर) अल्पमात्रा में खिलने वाले और कुछ-कुछ संकुचित होने वाले पद्मों से एक साथ बाहर निकलने वाली कमलों की आकृति-सी मध्यभाग पर बनाकर आ जाने वाली यह भ्रमरपंक्ति इस समय खोंची गयी चम्पकदल के समान दिखलाई पड़ रही है ॥ १७ ॥

अवि अ—अण्णोणाहिमुह-परम्मुहावलेहि
 पत्तेहि रइअर-धाउरंजिएहि ।
 एअस्स उअह-मुहुत्तए वावत्था
 जाअंभोरह-कुसुमाण एककरूहा ॥ १८ ॥

विदूषकः—वअस्स, अहं पि अत्तणो अणुरुगं साहेमि ।

उज्जंता कमलदला भित्त-कर-फँस-विरहेण ।
 सिसिरत्तणतण्हाए अण्णोणं परिमिलंति व्व ॥ १९ ॥

राजा—(विलोक्य) इति आरामलेहा । इह हि—

परिणअ-पणसप्पागा एदाओ विविणबीहीओ ।

विरएंति केउमालं विसअं संभरण-धाराए ॥ २० ॥

अपि च—अन्योन्याभिमुखपराङ्मुखावलीभिः पत्रैः रविकरधातु-
 रञ्जितैः । एतस्मिन् उभयमुहूर्तकेऽवस्था जाताम्भोरुहकुमुदानामेकरूपा
 ॥ १८ ॥

वयस्य, अहमप्यात्मनोऽनुरूपं कथयामि । उद्यन्तः कलमदलः मित्रकर-
 स्पर्शंविरहेण । शिशिरत्वतृष्णयाऽन्योन्यं परिमिलन्तीव ॥ १९ ॥

इयमारामलेखा । इह हि—परिणत-पनस-प्राया एताः विपिनबीथयः ।
 विरचयन्ति केतुमालां विषयं संस्मरणधारायाः ॥ २० ॥

ओर भी—एक-दूसरे की ओर मुँह किये हुए और एक-दूसरे की ओर मुँह
 फिराए हुए इन कमल और कुमुदों का सूर्य-किरणोंरूपी बातु से रंजित होकर एक
 समान अवस्था (इस समय) हो रही है ॥ १८ ॥

विदूषक—मित्र, मैं अपने कुछ अनुभवों का वर्णन करता हूँ । उत्तम रूप में
 विकास करने वाले ये कमल के दल मित्र के करस्पर्श से रहित होते हुए शीतल वस्तु
 के सेवन की अभिलाषा से युक्त हो एक-दूसरे का मानों आलिङ्गन कर रहे हैं ॥ १९ ॥

राजा—(देखकर) यह उपवन की एक पाँत आ गयी है । यहाँ—फणस के
 अति पक्वफलों से पूर्ण ये उपवन के मार्ग संस्मरणरूपी वृद्धिधारा की पताका
 लगाये हुए विषयों के लक्ष्य से हो रहे हैं ॥ २० ॥

अण्णं अ-सवण भुअणगबभाभोअसंछादअस्स

प्रबल-नम-गणस्सारंभआ अंसध व्व ।

अइणिविडतमाजा किं च तालीसमूहा

अवि मुणि-तह-संघा माणसे विफ्फुरंति ॥ २१ ॥

विद्वषकः—(पुरस्ताद गत्वा)

वणदेवी-अंतेउर-मज्जे णिउंज-मज्जे सुणेउर-णिणादा ।

अणुंगम्मंता सहसा हंस-जुआणेर्हि सुव्वंति ॥ २२ ॥

अन्यच्च—सकलभुवनगर्भाभोगसंछादकस्य प्रबलतमगणस्यारम्भका
अंशका इव । अतिनिविड-तमाला किञ्च तालीसमूहाः अपि मुनितहसंघा
मानसे विस्फुरन्ति ॥ २१ ॥

वनदेवयन्तःपुरनिकुञ्जमध्ये सुन्नपुरनिनादा ।

अनुगम्यमाना सहसा हंसयुवभिः श्रूयन्ते ॥ २२ ॥

और भी—ये घने तमाल-वृक्ष, ताल-वृक्षों के ये समूह और मुनि-तह
(अगस्त्यवृक्ष) के ये समुदाय (सभी) एक स्थान पर मिलकर सम्पूर्ण भूमण्डल
के मध्यभाग के विस्तार को आच्छादित करने वाले प्रबलतम अन्धकार के आरम्भक
अंश के सदृश मन में प्रस्फुरित हो रहे हैं ॥ २१ ॥

विद्वषक—(आगे चलकर) वनदेवी के अन्तःपुररूप निकुंज के बीच से
निकलने वाली मधुर नूपुर-ध्वनि—जो हंसयुवाओं से अनुसरण की जा रही हो—
सहसा इस समय सुनाई दे रही है ॥ २२ ॥

राजा—(किञ्चिद्दग्धे गत्वा) वअस्स, पेच्छ दाव ।

मज्जे लसंति जलणा विअ उज्जलंता

एदे पसूण-परिवम्मज्ज-चंपओहा ।

एसा उणो उहअ-पास-नाआ तमाल-

माला परं पठम-दहु-वसुंधरव्व ॥ २३ ॥

वयस्य, प्रेक्षस्व तावत् । मध्ये लसन्ति ज्वलना इवोज्ज्वलन्तः एते
प्रसूनपरिवर्मितचम्पकीघाः । एषां पुनरुभयपाश्वर्वगता तमालमाला परं
प्रथमदृष्टवसुन्धरेव ॥ २३ ॥

राजा—(कुछ आगे बढ़ते हुए) मित्र, इसे तो देखो ।

पुष्टों से घिरे हुए ये चम्पक-बृक्षों के समूह बीच में सुलगाई गयी अग्नि के
समान चमकते दिखलाई पड़ रहे हैं और इनके दोनों बाजुओं में अवस्थित यह
तमाल-बृक्षों को पंक्ति प्रथम बार देखी गयी पृथ्वी के जैसी लग रही है ॥ २३ ॥

विदूषकः—(पुरः प्रविश्य)

आमोह-लोहिल्ल-महुव्वर्णहि
संचादिआ रेहइ चंपआलो ।
विअंभमाणेहि तमुक्करेहि
तेअ-प्परोहा विअ संणिइस्स ॥ २४ ॥

राजा—(समन्तादबलोक्य) अहो अदिविवद्दं तिमिरं । तह हि—

अत्येण उण्ह-किरणस्स सहाअ-हीणं
णेत्तिदिअं अइबलेण तमुक्करेण ।
एत्तेण संमुहमणुक्लणहाअअंत-
ठाणं व संकुचइ मुक्क-पअं क्वमेण ॥ २५ ॥

आमोदलुब्ध-मधुव्रतैः सञ्छादिता राजते चम्पकाली । विजूम्भमाणैः
तम उत्करैः तेजःप्रोहा इव सन्निधेः ॥ २४ ॥

अहोऽतिविवृद्धं तिमिरम् । तथा हि—

अस्तेन उण्हकिरणस्य सहायहीनं नेत्रेन्द्रियमतिबलेन तमुक्करेण ।
एतेन सम्मुखमनुक्षणहीयमानं स्थानमिव सङ्कुचति मुक्तपदं क्रमेण ॥ २५ ॥

विदूषक—(आगे प्रविष्ट होकर) सुगन्ध के लोभी भ्रमरों से ढौकी हुई यह
चम्पकबृक्षों की पंक्ति बढ़कर फैल जाने वाले अंधेरे से ढौकी हुई निधि से प्रकट
होने वाली प्रकाश-किरणों-सी शोभित हो रही है ॥ २४ ॥

राजा—(चारों ओर देखकर) ओह ! अंधेरा कितना बढ़ चुका । क्योंकि
अब तो—सूर्य के अस्त हो जाने से असहाय हो जाने वाली नेत्रेन्द्रिय शक्तिशाली

अन्धकार के प्रसार के समुखवर्ती प्रदेश को प्रतिक्षण कम करने वाली नेत्र की भूमि को मानो क्रमशः छोड़कर संकुचित होती जा रही है ॥ २५ ॥

विदूषकः—(स्खलनमभिनीय)

जराए अम्हाणं अइविअलिअं णेत्त-करणं

घणे रणे अस्सि ण तिरइ दिणे वि प्पअरिदुं ।

विलिपंते आसामुहमहमहुगगाढ़-तिमिरे

कहं होज्जं सत्तो चरणपरिवाडी-विरअणे ॥ २६ ॥

राजा—णज्जंते समविसमा बहुवारं कअ-गआमए मग्गे ।

अणुमाऊण पअप्पण-देसं ता जाहिं अत्तरिअं ॥ २७ ॥

विदूषकः—सअसो वि सेविअंतो उवेक्खिओ संभरीअ दिण प्रथ्यो ।

तुम्हे भावि-पओअण-वसेण बद्धावरा एत्थ ॥ २८ ॥

जरयाऽस्माकमतिविकलितं नेत्रकरणं घनेऽरण्येऽस्मिन् न तीयंते दिनेऽपि प्रचरितुम् । विलम्पत्याशामुखमथ महोदगाढ़तिमिरे कथं भवेत् शकः चरणपरिपाटीविरचने ॥ २६ ॥

ज्ञायन्ते समविषमा बहुवारं कृतगतागते मार्गे । अनुमाय पदार्पणदेशं तद् याह्यत्वरितम् ॥ २७ ॥

शतशः (स्ववशः ?) अपि सेव्यमानः उपेक्षितः संस्मृत्य दिनार्थः । यूँ भाविप्रयोजनवशेन बद्धादरा अत्र ॥ २८ ॥

विदूषक—(लड़खड़ाते हुए) मेरे नेत्र बुढ़ापे के कारण बहुत दुर्बल हो गये हैं और इस धने जंगल में तो दिन में भी अंधेरा रहने से चलना भी सम्भव नहीं । किर यहाँ अब धने अंधेरे से जब दिशा का मुख ही व्यास हो तो ऐसे समय पैरों को रखना और उठाना कैसे हो यही आशंका बनी हुई है ॥ २६ ॥

राजा—कई बार नित्य आने-जाने के मार्ग में अम्यस्त अपने पैरों को ऊद्ध-खाबड़ भूमि को अंदाज से जानते हुए—रखकर धीरे-धीरे चले आओ ॥ २७ ॥

विदूषक—आप अनेक बार सेवन किये गये दिवस के कार्य को स्मरण कर उपेक्षित करते हुए अपने भावी उद्देश्य की पूर्ति में आस्था रख यहाँ आये हैं ॥ २८ ॥

राजा—(पुरोऽवलोक्य) वअस्स, एसो संणिहिदो संकेअ-मंडवो ।

दिर्दुआ पढ़मं चिथ ते लोअणाइ ण अंधोभूबाइं ।

विदूषकः—जं अहिरुद्धअं पिअवअस्सस्स । (इत्युभावुपविशतः)

राजा—मग्गं व उण्णमिअ कज्जलपव्वर्म्म

हीणं व तुल्समयं णम्रिणदिएहि ।

आपूरिजं व णिविडेहिैं मसीभरेहिैं

जाअं जअं पसरिए तिभिरुक्करम्म ॥ २९ ॥

विदूषकः—सबलजणेत्तरोहे उलूअणेत्ताइं विअसिआइं ।

णिष्पक्खपरिव्वाए णाणं विअणप्पड्हाए ॥ ३० ॥

वयस्य, एषः सन्निहितः सङ्केतमण्डपः । दिष्ठ्या प्रथममेव ते लोचने नान्धीभूते । यदभिरुचितं प्रियवयस्याय ।

मग्नमुन्नम्य कज्जलपर्वते हीनमिव तुल्यसमयं नयनेन्द्रियैः ।

आपूरितमिव निविडैः मसीभरैजातिं जगत् प्रसृते तिभिरोत्करे ॥ २९ ॥

सकलजननेत्ररोधे उलूकनेत्राणि विकसितानि ।

निष्पक्खपरिव्वाजे ज्ञानं विजनप्रतिष्ठायै ॥ ३० ॥

राजा—(सामने देखकर) मित्र, अब यह संकेतमण्डप (पास ही) आ गया है । यह बड़े भाग्य की बात है कि तुम्हारे नेत्र इसके पहिले अन्धे नहीं हो पाये हैं ।

विदूषक—प्रियमित्र को जो भी अच्छा लगे । (दोनों बैठ जाते हैं)

राजा—अन्धकार के घने फैलाव हो जाने पर ऐसा लग रहा है मानो संसार कज्जल पर्वत पर चढ़कर लीन हो गया हो, एक साथ नयनेन्द्रिय से हीन हो चुका हो या घनी काली स्याही के बोझ से भर चुका हो ॥ २९ ॥

विदूषक—इस समय मनुष्यों की नेत्रशक्ति बन्द हो रही है और उलूक की प्रकट (हो रही है) । निष्पक्ख या उदासीन सन्यासी के होने पर जैसे ज्ञान निर्जन या शून्य की प्रतिष्ठा करने वाला हो जाता है ॥ ३० ॥

राजा—रइ-पावए ण दिअहं दट्ठो कहाण जं ओहो ।

तस्सेअ अलाअ-गणो भुअणं पूरेइ तम-मिसेण ॥ ३१ ॥

विदूषकः—अहो अच्छरियं पेस्म-विलसिदं । जदो,

गाढ़धआर-गहणे मग्गे परिहोण-दीविआलोए ।

एक्कोचिच्चअ भमइ भवं णार्दवंदेण वंदिअ-पओ वि ॥ ३२ ॥

राजा—वअस्स, एवं णोदं ।

पिअअण-मिलणे वा तस्स संभावणे वा

अवि परिवर्हाणं अंतरा होइ तोसो ।

जइ उण उहआणं ताण मज्जे ण एक्कं

अवि बल-रित्त-रज्जे संठिआणं ण किं पि ॥ ३३ ॥

रविशावकेन दिवसं दाग्नः काष्ठानां यदोषः । तस्यवालातगणः भुवनं
ज्ञूरयति तमोमिषेण ॥ ३१ ॥

अहो आश्चर्यं प्रेमविलसितम् । यतः, गाढान्धकारगहने मार्गे
परिहोनदोपिकालोके । एक एव भ्रमति भवान् नरेन्द्रवृन्देन वन्दित-
पदोऽप ॥ ३२ ॥

वयस्थ, एवं न्विदम् । प्रियजनमिलने वा तस्य संभावने वा अपि
परिवर्हणामन्तरा भवति तोषः । यदि पुनरुभयोस्तयोमर्घ्ये न एकमपि
बलरिपुराज्ये संस्थितानां न किमपि ॥ ३३ ॥

राजा—दिन में सूर्यरूप अग्नि ने जो लकड़ी का ढेर जलाया था उसी की
बुझी हुई कोयलों की राशि अब अन्धकार के बहाने से (रूप में) संसार में
भर गयी है ॥ ३१ ॥

विदूषक—प्रेम का खेल बड़ा हो आश्चर्यकारी होता है । क्योंकि—जहाँ
वने अन्धकार से गहन हो जाने वाले मार्ग में दीपक का प्रकाश भी नहीं हो
पाता है तब ऐसे मार्ग में नरेन्द्रगण से अभिवन्दित चरणों वाले आप जैसे राजा
भी अकेले घूमते हैं ॥ ३२ ॥

राजा—हाँ मित्र, ऐसा ही होता है । क्योंकि प्रियजन के मिलन या उसकी

सम्भावना के ही हो जाने पर परिवार को बीच में ही सन्तोष मिल जाता है किन्तु जब दोनों में से एक भी न हो तो इन्द्र के राज्य रहने पर भी कुछ नहीं होता ॥ ३३ ॥

(नेपथ्ये पद-शब्दः)

विद्वषकः—किं पि पएहि अहिहआ संजिहिदा आरसइ भूमी ।

अणुमिज्जइ आअच्छदि संकेअ-घरं तुह कए सा ॥ ३४ ॥

राजा—आलोअ-विरहिआणं विमुद्रिआलाव-सद्वाणं ।

एदारिसे वि समए गमणं अण्णाण ण हु होइ ॥ ३५ ॥

ता इह चिढुम्ह । इति

किमपि पदभ्यामभिहता सन्निहिताऽरसति भूमिः । अनुमीयते आगच्छति सङ्केतगृहं तव कृते सा ॥ ३४ ॥

आलोकविरहितानां विमुद्रितालापशब्दानाम् । एतादृशे विसमये गमनमन्येषां न खलु भवति ॥ ३५ ॥ तदिह तिष्ठामः ।

(नेपथ्य से पैरों की घ्वनि आती है)

विद्वषक—यह घ्वनि तो पास से ही पैरों के भूमि पर होने वाले आवात को आ रही है । इससे यही अनुमान होता है कि तुमसे मिलने के लिए वही आ रही है ॥ ३४ ॥

राजा—क्योंकि प्रकाश से रहित और आलाप आदि शब्दों से रहित इस (निर्जन) प्रदेश में इस समय किसी दूसरे का आना तो निश्चित ही नहीं हो सकता है ॥ ३५ ॥ इसलिये यही रुकते हैं ।

(ततः प्रविशति नीलपटावगुणित-शरीरा शृङ्गारमञ्चरी वसन्त-तिलका च ।)

शृङ्गारमञ्चरी—मुद्रत्तणं पढमसाहसउज्जमो अ

दुक्खं विसोअजणिदं परतंतदा अ ।

रत्ती वणं अइघणं तिमिरं अरंधं

ठाविज्जाए सहि कहं णु पअं धराए ॥ ३६ ॥

मुगधत्वं प्रथमसाहसोद्यमश्च दुःखं वियोगजनितं परतन्त्रता च ।
रात्रिवर्णमतिघनं तिमिरमरन्धं स्थाप्यते सखि कथं नु पदं धरायाम् ॥३६॥

(नीले वस्त्र से शरीर को ढंकी हुई शृंगारमंजरी और साथ में
वसन्ततिलका का प्रवेश)

शृंगारमंजरी—एक तो मेरा भोलापन और फिर मिलन के लिए प्रथम बार किया गया यह साहस का कार्य, उसमें विरह से उत्पन्न होने वाली व्यथा और पराधीनता, रात्रि का ऐसा समय, अतिशय धना बन और वहाँ रहने वाला ऐसा गाढ़ा अन्धेरा । इन सबके रहने पर पृथ्वी पर पैर कैसे रखूँ यही विचार है सखि, अब मुझे आ रहा है ॥ ३६ ॥

वसन्ततिलका—एसो-विलक्षणो चिच्चय अहिसारविही वरोरुमहिलाणं ।
जास्स विलोअमग्गे पडिऊला होति अणुऊला ॥३७॥

अवि अ—धावइ पुरओ पुरओ मुह-जोष्हाए तुह पवाहो ।
वअणावरणणिअंसणमज्जिममगप्पणालेण ॥ ३८ ॥

शृङ्गारमङ्गरी—(तिमिरं निरूप्य)

अवि दिअहमसेसं अत्तणो आअर्वेहि
दससअकिरणेणापूरिओ आसि लोओ ।
णवरि अ जउणाए किं च मंदंतएहि
णिअ असिदताए संपदं पूरिओ सो ॥ ३९ ॥

एष विलक्षण एवाभिसारविधिर्वरोरु महिलानाम् । यस्मिन् विलोक-
मागें प्रतिकूला भवन्त्यनुकूलाः ॥ ३७ ॥

अपि च—धावति पुरतः मुखज्योत्स्नायास्तव प्रवाहः । वदनावरण
निवसनमध्यममार्गप्रणालेन ॥ ३८ ॥

अपि दिवसमशेषमात्मनः आतपे: दशशतकिरणेनापूरितः आसील्लोकः ।
केवलञ्च यमुनया किञ्च मन्दान्तकाभ्यां निजकासितया साम्प्रतं पूरितः
सः ॥ ३९ ॥

वसन्ततिलका—अरी सुन्दरी, महिलाओं के लिए अभिसरण का यह उद्योग अपना विलक्षण महत्त्व रखता है, जिसमें लोकविरुद्ध वातें भी इस मार्ग में अनुकूल बन जाती हैं ॥ ३७ ॥

और भी—तुम्हारे मुखचन्द्र से निकलने वाली इस चन्द्रिका का प्रवाह तुम्हारे ही मुख के आच्छादक वस्त्र के मध्यवर्ती मार्ग से प्रणाली-सा निकलकर आगे-आगे प्रवाहित होता जा रहा है ॥ ३८ ॥

श्रुंगारमंजरी—(अंधेरे को देखकर) इस संसार को सूर्य भगवान् ने अपने सहस्र किरणों के आतप से दिन में पूर्ण कर दिया तो अब रात्रि में उनकी पुत्री यमुना और पुत्र यम तथा शनि ने अपनी कृष्णता से इसे भर डाला है ॥ ३९ ॥

राजा—(आकर्ण स्वगतम्)

सवणाणं अमअपारणजणआ णिव्वावआ तणुजरस्स ।

मोत्तिअ-विसआ एदे गबिभअ-वंकत्थ-आवण्णा ॥ ४० ॥

वसन्ततिलका—सहि, संणिहिदो वक्षु संकेअमाहवीमंडवो ।

शृङ्गारमङ्गरी—कथं एवं विआणासि ?

वसन्ततिलका—तुम्हाण जत्थ रइ-णाअअ-पूअणम्मि

अण्णोण्ण-दंसण-सुहं पढमं पउत्तं ।

तस्स असोअ-तरुणो उअ मूल-देसे

अम्हे मिअंकमुहि एण्हमुवागअम्ह ॥ ४१ ॥

श्रवणयोरमृतपारणजनका निर्वापिका: तनुज्ज्वरस्य ।

मौक्किकविषया एते गर्भितवकार्थकाः वर्णाः ॥ ४० ॥

सखि, सन्निहितः खलु सङ्केतमाधवमीण्डयः । कथमेवं विजानासि ।

युवयोर्यंत्र रतिनायकपूंजनेऽन्योन्यदर्शनसुखं प्रथमं प्रवृत्तम् । तस्मिन्न-
शोकतरोः पश्य मूलदेशो आवां मृगाङ्कमुखि इदानीमुपागते स्वः ॥ ४१ ॥

राजा—(सुनकर । स्वगत) प्रिया के मुख से निकलने वाले वक्त्रार्थगर्भित ये वचन मेरे कानों में अमृत की पारणा-सी बना रहे हैं, ये मेरे शरीर के सन्ताप को शान्त करने वाले और मौक्किक माला से स्वच्छ लग रहे हैं ॥ ४० ॥

एदाहि दाहिणे उण वामे मोक्षूण सिन्दुवार-वणं ।

चरणेहिं कइपएहिं गमिहसि सहसा कुडंगंतं ॥ ४२ ॥

शृंगारमञ्जरी—अग्ने अहं जह जह चिचउ संठवेमि

मग्ने पआइँ भअ-मम्मह-वेविराइँ ।

उविभज्जए विअलदा सहि विप्पलंभ-

संभावणाइ हिअस्स तहा तहा ने ॥ ४३ ॥

एतस्याः दक्षिणे पुनः वामे मुक्त्वा सिन्दुवार-वनम् । चरणः कति-
पयैर्गमिष्यसि सहसा कुडङ्गं तम् ॥ ४२ ॥

अग्रेऽहं यथा यथैव संस्थापयामि मार्गे पदानि भयनन्मथवेपन-
शीलानि । उद्धृद्यते विकलता सखि विप्रलम्भसंभावनया हृदयस्य तथा
तथा मे ॥ ४३ ॥

वसन्ततिलका—सखि, वही माघवीमण्डप जो तुम्हारा संकेत स्थान है—
अब विलकुल पास में ही है ।

शृंगारमंजरी—यह तुमने कैसे समझ लिया ।

वसन्ततिलका—अरी चन्द्रमुक्तो देख । जिस स्थान पर गदन पूजन के समय
तुम दोनों को परस्पर दर्शन का प्रथम सुख प्राप्त हुआ था उसी अशोक बृक्ष के
नीचे अब हम पहुँच गये हैं ॥ ४१ ॥

इससे दाहिनी ओर जाकर फिर बायों ओर आने वाले सिन्दुवार बृक्षों के
बन को जब हम पार करेंगे तो उससे कुछ ही कदम आगे चलने पर तुम उस
कुछ पर पहुँच जाओगी ॥ ४२ ॥

शृंगारमंजरी—सखि, मैं भय और अनुराग से बार-बार कंपित होने वाले
अपने चरणों को जैसे-जैसे रखती जाती हूँ वैसे-वैसे मेरे मन में विरह की आशंका
से हृदय में विकलता उत्पन्न होने लगती है ॥ ४३ ॥

अवि अ—

वामा अह भुअ-लदिआ वामं चिअ लोबणं फुरइ ।

एककं उण तेण अलं संबुसा जणिअ-जीविआसंघा ॥ ४४ ॥

अपि च—वामा अथ भुजलतिका वाममेव लोचनं स्फुरति । एकं पुनस्तेनाहं संवृत्ता जनितजीविताश्वासा ॥ ४४ ॥

तथा—मेरी बांयी भुजा और बांया ही नेत्र इस समय फड़क रहा है इसलिये केवल एक इसी बात से अपने जीवन के प्रति मैं अब आश्वस्त हो रही हूँ ॥ ४४ ॥

वसन्ततिलका—अलं इमिणा संदेहेण ।

देवं अवेक्खिअ पहुत्त-गुणंतराआ
आभद्रिआ सि सहि जेण तुमं पि एत्थ ।
राओ वसंत-समओ अह मम्महो वा
सो तत्थ होहिइ कहं रहिअप्पहावो ॥ ४५ ॥

राजा—(विदूषकं प्रति जनान्तिकम्) एसो ज्जेव पिबअमा-संगमा-
णुरूओ मुहुत्तो ।

मज्ज कए अणुहूदो एदाए संतदो कखु संतावो ।

साहोणो विअ एण्ह विडणेमि अहं णु तं मुहुत्तं पि ॥ ४६ ॥

अलंमनेन सन्देहेन । देवमवेक्ष्य प्रभूतगुणान्तरा या आर्कषिताऽसि
सखि येन त्वमप्यन्न । रागो वसन्तसमयोऽथ मन्मथो वा स तत्र भवति
कथं रहितप्रभावः ॥ ४५ ॥

एषः एव प्रियतमासङ्गमानुरूपो मुहुत्तः । मम कृतेज्ञभूतः एतया सन्ततः
खलु सन्तापः । स्वाधीनोऽपि चेदानीं विगुणयामि कथं नु तं मुहुत्तंमपि ॥ ४६ ॥

वसन्ततिलका—अब यहाँ सन्देह की क्या आवश्यकता है । क्योंकि जब तुम बुद्धिमती होकर स्वयं अतिशय गुणों से युक्त महाराज को देख उनकी ओर आकृष्ट हुई हो तो ऐसे अवसर पर आन्तरिक अनुराग, वसन्तकृष्टु और कामदेव अपने प्रभाव को कैसे नहीं बतलावेंगे ॥ ४५ ॥

राजा—(विदूषक से जनान्तिक द्वारा) प्रिया से मिलने की यही उपयुक्त
बेला होती है । क्योंकि मेरे लिए ही इसने सदा इतनी यातना सहन की तो मैं
स्वाधीन रहकर इसे एक घटिका के लिए भी क्यों कष्ट में ढालूँ ॥ ४६ ॥

अबि अ—पढ़मविरहो ण विसमो मणोरहामअसुणिव्वुद्गाणं ।

संकेइअ-समए उण तेण विणा होइ दुक्खमइवेलं ॥ ४७ ॥

विद्वषकः—उवसप्पदु भवं । अहं उण तिमिर-जाल-जंतिओ एत्य-
चिच्छ वस्ते, ण पुणो वि मग्निअव्वो ।

राजा—एवं भोदु । (इत्युपसृत्य) सुंदरि, एविणा मग्नेण माह-
बीमंडवं पविस—

बद्धो गुणेहिं पढ़मं चित्र तावएहिं

ईसं पुणो पडिहओ पडिबन्धएण ।

एण्ह वरोह मअणासुअमारुएहिं

संपेल्लिओ उवणओ त्थि अं जणो ते ॥ ४८ ॥

अपि च—प्रथमविरहो न विषमो मनोरथामृतसुनिवृत्ताङ्गानाम् । सङ्क्षेतित-
समये पुनस्तेन विना भवति दुःखमतिवेलम् ॥ ४७ ॥

उपसर्पतु भवान् । अहं पुनस्तिमिरजालयन्त्रितोऽत्रैव वसामि, न
पुनरपि मार्गितव्यः ।

एवं भवतु । सुन्दरि, एतेन मार्गेण माधवीमण्डपं प्रविश । बद्धो गुणैः
प्रथममेव तावकैरीषत् पुनः प्रतिहृतः प्रतिबन्धकेन । इदानीं वरोह मदना-
शुगमारुतैः सम्प्रेरित उपनतोऽस्त्ययं जनस्ते ॥ ४८ ॥

और—प्रथम प्राप्त विरह अब इसे दुःख नहीं देगा क्योंकि, मनोरथरूप अमृत
से इसके शरीर को अतिशय शान्ति मिल चुकी है । और यदि यह मनोरथ न
होता तो इस संकेत की बेला में इसे अवश्य कष्ट होता ॥ ४७ ॥

विद्वषक—अब आप आगे बढ़िये । मैं इस अन्धकार में ही जकड़ा हुआ
रहते हुए यहीं रुक रहा हूँ । हाँ, तुम मुझे इधर ढूँढ़ने का प्रयत्न मत करना ।

राजा—अच्छा, ऐसा ही करो । (समीप आकर) सुन्दरी, तुम इस रास्ते
से माधवीमण्डप में प्रवेश करो ।

हे सुन्दरी, मैं तो पहिले ही तुम्हारे गुणों से आबद्ध हो चुका था और प्रति-
बन्धकों के कारण इस समय तक प्रतिहृत-सा होते हुए भी मदन के बाणों से
प्रेरित होकर इस समय यहीं जन अब तुम्हारे समीप था चुका है ॥ ४८ ॥

शृङ्गारमञ्जरी—(स्वगतम्) कहं महाराओ पढ़मं चिअ संकेअ-
मंडवं संपत्तो । ता कि दाँग पडिवज्जामि ।

वसन्ततिलका—जेदु जेदु भट्टा । एत्तिअमेत्तो मे णिओओ । कणंतरं
देवी पमाणं ति ।

राजा—(नायिकां प्रति) चंदमुहि, अलंकरीअदु लदामंडपो ।

(शृङ्गारमञ्जरी सलज्जं कम्पमानाधोमुखी तिष्ठति)

राजा—तिमिरस्स बढ़दणं वा विमुद्रणं वा जलरुहाणं ।

संयेक्षिक्षण मणे सुंदरि ते ओणां व अणं ॥ ४९ ॥

वसन्ततिलका—विणादं खलु देवस्स ।

अहिअं पि मणीसिए पअत्ये एडिउलत्तणमंणा-सहावो ।

अइरिच्चइ तं णवंगणाणं पुण लज्जा-भय-मंथरीकिआणं ॥ ५० ॥

कथं महाराजः प्रथममेव सङ्केतमण्डपं सम्प्राप्तः । तत् किमिदानीं
प्रतिव्रजामि । जयतु जयतु भर्ता । एतावन्मात्रः मे नियोगः । अनन्तरं
देवो प्रमाणमिति ।

चन्द्रमुखि, अलङ्कियतां लतामण्डपः । तिमिरस्य वर्धनं वा विमुद्रणं
जलरुहानाम् । सम्प्रेक्ष्य मन्ये सुन्दरि तेऽवनतं वदनम् ॥ ४९ ॥

विजातं खलु देवस्य । अधिकमपि मनोषिते पदार्थं प्रतिकूलत्वमञ्जना-
स्वभावः । अतिरिच्यते तन्नवाञ्जनानां पुनः लज्जाभयमन्थरीकृतानाम्
॥ ५० ॥

शृंगारमंजरी—(स्वगत) अरे महाराज तो हमसे पूर्व ही संकेतमण्डप में
आ चुके हैं । अब मैं क्या करूँ ।

वसन्ततिलका—महाराज को जय हो । मेरा कार्य वस इतना ही था । आगे
आप या महारानी जैसी आज्ञा करें ।

राजा—(नायिका से) चन्द्रमुखी, इस लतामण्डप को चलकर अलंकृत
कीजिये ।

(शृंगारमञ्जरी लज्जा से नीचा मुह करके खड़ी हो जाती हैं)

राजा—सुन्दरी, इस तुम्हारे झुके हुए मुंह को देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अन्धेरे का बढ़ना या कमल का संकुचित होना इसी कारण होता है ॥ ४९ ॥

वसन्ततिलका—महाराज ने इसे ठीक ही जाना है। क्योंकि—अतिशय इष्ट पदार्थ के प्रति अनिच्छा या प्रतिकूल भाव दिखलाना स्वीका स्वभाव माना जाता है और लज्जा या भयबश जो नवयुवतियाँ अपनी चेष्टाओं को अधिक मन्द बनाती हो उनके लिए यह और भी अविक हो जाता है ॥ ५० ॥

राजा—एवं क्खु एवं । (नायिकामुद्दिश्य)

उदकं पिअ-गत्त-लदा मल आणिल-चुंदिअ व्व माहविआ ।
वरउणु-करेणु-करेण पाणि मह गहिअ करिज्जउ प्पदेसो ॥ ५१ ॥

(इति तथा कृत्वा स्वगतम्)

जइ वि ण करेइ जत्तं मम करमालभिउं मुद्धा ।

तह वि गहिअं णिअ-करं ण मम करादो विओइए ॥ ५२ ॥

(इति प्रविशति)

एवं खल्वेतत् । उत्कम्पित-गात्रलता मलयानिलचुम्बितेव माधविका ।
वरतनु करेणुकरेण पाणि मम गृहीत्वा क्रियतां प्रवेशः ॥ ५१ ॥

यद्यपि न करोति यत्नं मम करमालभितुं मुग्धा । तथापि गृहीतं
निजकरं न मम करात् वियोजयति ॥ ५२ ॥

राजा—हीं, यह तो ठीक ही है । (नायिका से) सुन्दरी, मलय-पवन के स्पर्श से कम्पित होने वाली माधवीलता-सी तू हाथों की सूँड से कोमल अपने हाथों को मेरे हाथों से सहारा लेती हुई इसमें प्रवेश कर ॥ ५१ ॥

(ऐसा होने पर । स्वगत) यद्यपि यह मुग्धा मेरे हाथों को ठीक से सम्हालने का प्रयत्न नहीं कर रही है किन्तु फिर भी मेरे द्वारा गृहीत अपने हाथ को छुड़ाने का उद्योग भी नहीं करती है ॥ ५२ ॥ (नायिका प्रवेश करती है)

वसन्ततिलका—अहं उण जणंतर-संचारं तु पेवखंती वाहिरे चिच्चव
गइस्सं । (इति तथा करोति)

शृङ्गारमञ्जरी—(स्वगतम्) कधं एवाइणी संवुत्त ह्यि ।

राजा—(स्वगतम्) ण नु विहृष्टाणं किं पि उवदेसणिज्जं । (प्रकाशम्)
किं एवं अंसरिजहं ठिआ सि ।

सेहालिआ-कुसुमसंगमलद्वगंधो
कुंजंतरे घणअरे कह वि पपड्हुो ।
अच्चंतदूरगमणप्पडिवण्णखेओ
सेदो अबं तुह रसेड स सहिवाओ ॥ ५३ ॥

(इति मुखावरणमपाकरोति शृङ्गारमञ्जरी मुखमवनम्य रोदिति)

अहं पुनः जनान्तरसञ्चारं प्रेक्षमाणा बहिरेव स्थास्यामि । कथमेका-
किनी संवृत्तास्मि ।

न खलु विदग्धानां किमप्युपदेशानीयम् । किमेवमन्तरितं स्थितासि ।
शेफालिका-कुसुमसञ्जमलब्धगन्धः कुञ्जान्तरे घनतरे कथमपि प्रविष्टः ।
अत्यन्तदूरगमनप्रतिपन्नखेदः स्वेदोदकं तव रसयनु शीघ्रवातः ॥ ५३ ॥

वसन्ततिलका—मैं कोई दूसरा इधर न आवे यह देखने के लिए यही बाहर
ही रहती हूँ । (वैसा करती है ।)

शृंगारमंजरी—तो यहाँ क्या मैं अकेली ही रहौंगी ।

राजा—(स्वगत) समझदार को कुछ भी बतलाना नहीं पड़ता है ।
(प्रकट) अरे ! इस प्रकार तुम अलग दूर रहती हुई क्यों खड़ी हो ।

शेफालिका के पुष्पों की सुगन्ध से पूर्ण, कुंज के अन्दर किसी प्रकार आ जाने
वाले और दूर से आने के कारण थके हुए के समान दिखने वाले इस शीघ्रगामी
पवन से तुम्हारे मुख के स्वेद को दूर किया जा रहा है ॥ ५३ ॥

(राजा मुख से धूंधट हटाता है । शृंगारमञ्जरी मुँह शुका कर रोने लगती
है ।)

राजा—पढमं मम अणागमणसंकिआ वि एवं कहेदि । ('अगे अहं जह जह चिच्छ संठवेमि' इत्यादि पद्यं (३।४३) पुनः पठति)

एष्ठि उण—

पणमिअ मुहअंतं पम्ह-घोलंत-वाहा
वलिलवविणिवाआ किं पि तण्हाअ गंडं ।
अइपसरिअसासाहाअ-वेअप्पकंप-
त्थणमउल (अ) मेअं ईरिसं होइ तुणं ॥ ५४ ॥

प्रथमं ममानागमशङ्किताप्येवं कथयसि ।

इदानीं पुनः । प्रणमितमुखचन्द्रं पक्षमधूर्णमानवाष्पा-वलिलवविनि-
पातात् किमपि तत् स्नातगण्डम् । अतिप्रसृतश्वासाधातवेगप्रकम्प-
स्तनमुकुलकमेतत् ईदृशं भवति तूर्णम् ॥ ५४ ॥

राजा—मेरे न आने की आशंका से पहिले तो तू इस प्रकार कह रही थी । ('अगे अहं' ३।४३ इत्यादि पद्य कहता है) और फिर इस समय-तुम्हारा यह
मुखचन्द्र शुका हुआ है, नेत्रों के कोनों से निकल कर बहने वाली आंसुओं को
दूरों से नहाकर कपोल गीले हो रहे हैं और जोरों से ली जाने वाली साँसों के
दूर तक चलने से यह उरोजयुगल भी जल्दी-जल्दी कांपता-सा दिखलाई देता
है ॥ ५४ ॥

अवि अ—

बाहुज्ञरेण महलीकिदमाणणं ते
मज्जेम (वासुण्ड) चारुकरेण मंदं ।
णीसासवेअविदुरं हिबअं परं च
हृत्येण कि पि सिद्धिलेण परामिसामि ॥ ५५ ॥

(इति तथा कुर्सते)

अपि च—बाष्पोत्करेण मलिनीकृतमाननं ते मार्जयामि वा सुतनु
चारुकरेण मन्दम् । निःश्वासवेगविधुरं हृदयं परम्भं हस्तेन किमपि
शिथिलेन परामृशामि ॥ ५५ ॥

तथा—अरी मुन्दरी, मैं अशुओं के निरन्तर प्रवाह से मलिन होने वाले तुम्हारे
मुँह को अपने हाथों से पोंछ देता हूँ और चलने वाली साँसों के वेग से कष पाने
वाले हृदय-प्रदेश को हल्के हाथों के स्पर्श से ठीक करना चाहता हूँ ॥ ५५ ॥

शृङ्गारमञ्जरी—आजम्मं परतंतदा असुलहे णेहाणुबंधो जणे
प्राणा पत्थर-कवकसा ण मरणोवाओ वि पाविज्जई ।
इहुो सो वि जणोऽणुरागभरिलो जं सो वि सावग्गहो
एआरिच्छ-कअत्थणे ण मरिउं णो जीविउं तीरइ ॥ ५६ ॥

आजम्मं परतन्त्रताऽसुलमे स्नेहानुबन्धो जने प्राणाः प्रस्तरकर्कशा न
मरणोपायोऽपि प्राप्यते । इष्टः सोऽपि जनोऽनुरागभरितः यं सोऽपि सावग्रहः
एतादृक्षकदर्थनेन न मतुँ नो जीवितुं तीर्यते ॥ ५६ ॥

शृङ्गारमञ्जरी—आजीवन परतन्त्र रहना, सहजभाव से प्राप्त न होने वाले
व्यक्ति में अनुराग रहना, अपने प्राणों को पाषाण से भी (अधिक) कठिन बनाना,
मरण को उपाय का प्राप्त न करना और अपने प्रिय का बन्धनों से मुक्त सा रहना ।
ऐसी स्थिति में न तो मुझसे अपना जीवन त्यागा जा रहा है और न जीना ही
संभव रह गया है ॥ ५६ ॥

राजा—(श्रुत्वा स्वगतम्) अत्तणो मम अ देवी-पराहीणदाए संबंध-
विरहो राआवअमप्पडिसेहो अ सिलोअत्थो । (प्रकाशम्)
देवीए अणुरोहा जह मह संकिञ्जइ सिणेहो ।
वरवर्णिणि ण तुमं चिचअ किमेत्य ताणं विबुद्धवहिआणं ॥ ५७ ॥

आत्मनो मम च देवोपराधीनतया सम्बन्धविरहः रागावगमप्रति-
वेश्वर्च इलोकार्थः । देव्या अनुरोधाद्यदि मम शङ्खते स्नेहः । वरवर्णिणि न
त्वमेव किमत्र तेषां विबुद्धवधिकानाम् ॥ ५७ ॥

राजा—(सुनकर । स्वगत) इसने इस कथन से मेरे महारानी के अधीन होने पर दोनों का सम्बन्ध न होने की और इस प्रकार परस्पर होने वाले अनुराग की पहचान न होने की वात को सब्यंग सूचित किया है । (प्रकट) सुन्दरी, तुम यदि महारानी के उपरोध पर तुम्हारे प्रति रहने वाले मेरे अपने अनुराग में आवंका रखती हो तो ऐसा नहीं है, क्योंकि मेरा सर्वस्व तुम ही हो । यह तुम्हारे द्वारा जानकर भी मारने जैसा कार्य कैसे हो रहा है ॥ ५७ ॥

शृङ्गारमञ्जरी—भट्टा, अलं एदिणा दक्षिण्णण-गिञ्चंतरेण ।

राजा—णीलुप्पलच्छ तुममुज्ज्ञाम माणसं मे
सब्वाहिते वि विसए ण रुद्धं उवेष्ट ।

एदं पि मण्णसि जइ च्छल-वाऽ-मेत्तं
ता पाणिणा तुह अहं हिअं छिवामि ॥ ५८ ॥

(इति तथा करोति)

भर्तः, अलमेतेन दक्षिण्णनियन्त्रणेन ।

नीलोत्पलाक्षि त्वामुज्ज्ञत्वा मानसं मे सर्वाधिकेऽपि विषये न रुचिमु-
पैति । एतदपि मन्यसे यदि च्छलवाङ्-मात्रं तत् पाणिना तवाहं हृदयं
स्पृशामि ॥ ५८ ॥

शृङ्गारमञ्जरी—महाराज, अपने औदार्य के अधीन हो आप ऐसी वातें क्यों
करते हैं ।

राजा—अरी नील कमल की-सी नेत्रों वाली, तुम्हें छोड़कर मेरा मन अन्यत्र^१
सर्वोत्तम पदाथों में भी सौख्य या रुचि नहीं प्राप्त कर सकता है । और यदि तुम
मेरे इस कथन को छलना समझती हो तो मैं तुम्हारे हृदय को छूकर अपनो इस
वात की शपथ ले लेता हूँ ॥ ५८ ॥

(वैसा करता है)

शृङ्गारमञ्जरी—सुणादु भट्टा ।

अणुऊलं आअरिअं संतं पेम्मं पआसेइ ।
जं सह वढावणिज्जं तं चिग साहेंती आहासं ॥ ५९ ॥

श्रृणोतु भर्ता । अनुकूलमाचरितं सत् प्रेम प्रकाशयति । यत् सहेव
दर्शनीयं तदेव कथयन्त्याभासम् ॥ ५९ ॥

शृङ्गारमञ्जरी—महाराज, जरा सुनिये । प्रेम अनुकूल आचरण से स्वयं प्रकट
हुआ करता है और जो साथ रहने पर दिखलाया भर जाता हो उसे तो केवल
आभास मात्र समझा जाता है ॥ ५९ ॥

राजा—जइ एवं आसंकसि—

अन्हुं सिराहरणणिभ्ल-पभ्मराओ
भाणुवकर्तरिथ-पाथणहो पिए ते ।
गव्भे णिहितसित्र दीहिमंडलो व्व
मत्तंडओ फुरउ चंडि विमुच्च माणं ॥ ६० ॥

(इति प्रणमति)

शृङ्गारमञ्जरी—भट्टा, अलं एत्तिएण (इति चरणौ सञ्ज्ञोचयति)

यद्येवमाशङ्क्षसे । अस्माकं शिरसाभरणनिर्मलपद्मरागः भानुत्करान्त-
रितपादनखः प्रिये ते । गर्भे निहितसितदीधितिमण्डल इव मार्तण्डकः
स्फुरतु चण्डि विमुच्च मानम् ॥ ६० ॥

भर्तः, अलमेतावता ।

राजा—यदि तुम्हें ऐसी आशंका हो तो—अपने मुकुट के रत्नों की किरणों
से तुम्हारे पैरों के नखों को आच्छादित करते हुए पद्मरागमणि-सी प्रभा को—
जिसके बीच में सफेद किरणों के होने पर सूर्य सी आभा रहती है—अपने पैरों में
लौटने दे और मेरे प्रति रहने वाले ऐसे मान को त्याग दे ॥ ६० ॥

(पैरों पर झुकने लगता है)

शृङ्गारमञ्जरी—महाराज, बस इतना ही हो । (अपने पैरों को पीछे हटाती
है) (बसन्ततिलका का प्रवेश ।)

(प्रविश्य)

बसन्ततिलका—सहि, माहविंशं तुह ठाणे ठाविअ आअद म्हो । ता
जाव एसो अथो ण प्पभासो होइ ताव चिच्चब लहु गच्छासो ।

शृंगारमङ्गरी—एवं करीअदु । (इत्युत्तिष्ठति)

राजा—का गदी पराहिणदाए (इत्युत्थाय)

सुन्दरि पेम्मविसेसो अम्हेसु तुए कओ सअं चेअ ।

तस्स अविच्छेऽओ उण अत्यिजइ अज्ज अम्हेहि ॥ ६१ ॥

वसन्ततिलका—महाप्पसाओ देअस्स एसो सिरम्मि पडिगहिवो ।
एकं उण विष्णवीअदि—

दावारंतर-सत्ती पहुत्तणं इअर-जुअइ-सबभावो ।

होंति गुणा जस्स इने संकिज्जइ तस्स पेम्म विच्छेऽओ ॥ ६२ ॥

सखि, माधविकां तव स्थाने स्थापयित्वा आगते स्वः । तद्यावदेपोऽर्थः
न प्रकाशो भवति तावदेव लघु गच्छामः ।

एवं क्रियताम् । का गतिः पराधीनतया । सुन्दरि प्रेमविशेषोऽस्मासु
त्वया कृतं स्वयमेव । तस्याविच्छेदः पुनरर्थ्यतेऽद्यास्माभिः ॥ ६१ ॥

महाप्रसादो देवस्यैषः शिरसि प्रतिगृहीतः । एकं पुनः विजाप्यते
व्यापारान्तरसक्तिः प्रभुत्वमितरयुवतिसङ्घावः । भवन्ति गुणाः यस्येमे
शङ्खते तस्य प्रेमविच्छेदः ॥ ६२ ॥

वसन्ततिलका—(आकर) सखी, तुम्हारे स्थान पर माधविका को रखकर
हम यहाँ आये हैं । इसलिये जब तक यह बात प्रकट न हो इसके पूर्व हा यहाँ से
हमें लौट जाना चाहिए ।

शृंगारमङ्गरी—अच्छा ऐसा ही करें । (खड़ी हो जातो है ।)

राजा—पराधीनता के कारण विवशता है । (उठकर) सुन्दरी, तुमने
स्त्रयं हमारे प्रति विशेष रूप से जो अनुराग रखा था । अब मैं उसी की
अविच्छिन्नता की तुम से (फिर) याचना करूँगा ॥ ६१ ॥

वसन्ततिलका—महाराज की इस कृपा को हम अपने मस्तक पर चढ़ाते हुए
केवल एक बात की प्रार्थना करते हैं कि—अन्य कार्य में आतक रहने, स्वामित्व
के भाव रखने तथा अन्य युवती में आसक्ति रखने की प्रवृत्ति के रखने से प्रेम के
विच्छेद होने की आशंका होती है ॥ ६२ ॥

राजा—कहं एवं आसंकीआमो—

केअइ-मालइ-मल्ली-लदासु-भमरो भणउ णाम ।

तस्स उण पम्मणीए जो राओ सो अणण्णसामण्णो ॥ ६३ ॥

(इति निष्कान्ताः सर्वे)

॥ तृतीयं यवनिकान्तरम् ॥

कथमेवमाशङ्कामहे । केतकी-मालती-मल्लीलतासु भ्रमरो भ्रमतु नाम—
तस्य पुनः पद्मिन्यां यो रागः सोऽनन्यसामान्यः ॥ ६३ ॥

राजा—(पर) हमारे प्रति आपकी ऐसी आशंका क्यों होनी चाहिए ।
ब्राह्मणोंकि—भौरा चाहे केतकी, मालती या मालिका की लताओं पर धूमे पर उसवाह
जो अनुराग कमलिनी पर होता है वह अन्यत्र संभव नहीं होता ॥ ६३ ॥

(सभी जाते हैं ।)

(तृतीय यवनिकान्तर समाप्त)

चतुर्थं यवनिकान्तरम् ।

(ततः प्रविशति राजा)

राजा — (स्मरणमभिनीय)

हृत्य-पक्षं-भवेण मज्जा हरिसावेसेण रोमांचिअं
थोअत्योविअ-मुद्ध-भाव-जणिअ-त्ताणेण उकंपिङ्गं ।
अंतो णिक्कुदि-मिस्स-सुक्क रुइअं णीणास-संपेल्लणा
उकंपंत-पओहर-त्थवअअं तीए भरामो दसं ॥ १ ॥

हस्तस्पर्शंभवेन मम हषविशेन रोमांचितां स्तोक-स्तोकितमुग्ध-
भावजनितत्रासेन उत्कमिताम् । अन्ते निवूंतिमिश्रशुष्करुदितां निःश्वास-
सप्रेरणोत्कम्पत्पयोधरस्तवकतां तस्य स्मरामो दशाम् ॥ १ ॥

(राजा का प्रवेश)

राजा — (स्मरणभाव को दिखलाकर) मेरे हाथों के स्पर्श से उत्पन्न हैं
से रोमांचित हो जाने वाले, भोलेपन में भय से कुछ-कुछ काँरने वाले और बाद
में बनावटी रोने के साथ प्रसन्नता से मिली हुई प्रिया के निःश्वासों से प्रेरित
गुच्छाकार उरोजों की कमित दशा अब याद आ रही है ॥ १ ॥

अविअ —

णेत्ताइं मुह-चंद-दंसण-रसा सोत्ताइ वाआसुहा-
सोत्तेहि सुअतीअ देह-लदिआ-पक्षंसेण गतं तहा ।
आमोएग कलेवरस्स सुहिदा णासा वि मे तवखणे
अप्यत्ताहर-बिब-चुंबण-रसा जीहा उणो जूरइ ॥ २ ॥

अपि च—नेत्रेमुखचन्द्रदर्शनरसे श्रोत्रे वाक्सुधास्त्रोतोभिः सुदत्या
देहलतिकास्पर्शेन गात्रं तथा । आमोदेन कलेवरस्य सुखिता नासा अपि मे
तत्क्षणेऽप्राप्ताधरविम्बचुम्बनरसा जिह्वा पुनः दूयते ॥ २ ॥

और भी—उस सुन्दर दंतपंक्तियों वाली सुन्दरी के मुखचन्द्र से मेरे नेत्र, उसकी बाणी के अमृत प्रवाह से मेरे कान, उसकी देहलतिका के स्पर्श से मेरे बंग, उसके शरीर की सुवास से मेरी नासिका तृप्त हो गयी किन्तु उसके अधर-विम्ब का रस प्राप्त न करने के कारण मेरी जिह्वा इस समय दुखी हो रही है ॥ २ ॥

(विविन्द्य) अहो देवीए गाढ़ो विद्वेस-पक्खबादो जदो आसाइद-जहत्थ-पउत्तोए पिअबअस्सो गोअमो वसन्ततिलआ अ भिण्ण-भिण्णे क. राआरे णिश्छा । सा अ जीविद-वल्लहा केसरि-वहू-कर-पडिअब्ब हरिण-किसोरिआ अत्ताणा अंतेउररंस्स अबभंतरे अण्णदो प्पवेस-मग्ग-रहिदे गाढ़न्धआर-गहणे पाआल-विवर वव दुविकद-पुंस-सारिच्छे जणंतर-प्पआर-वज्जिदे एर्स्स अबवरए प्पवेसिआ । तदो किं एत्थ करेमि । अहो देवस्स दुविलसिदं ।

जस्स पुरो सुह-दुक्खलं वीसंभा आसि संभरिज्जंतं ।

सो वि वअस्सो वंदित्तणं गओ अच्छउ किमण्णं ॥ ३ ॥

अहो देव्या: गाढ़: विद्वेषपक्षपातः यतः आसादितयथार्थप्रवृत्त्या प्रियव-यस्यो गौतमो वसन्ततिलका च भिन्नभिन्ने कारागारे निष्ठ्ड्वौ । सा च जीवितवल्लभा केसरिवधूकरपतितेव हरिणकिशोरिकाऽत्राणाऽन्तपुरस्या-स्यन्तरेऽन्यतः प्रवेशमागंरहिते गाढ़न्धकारगहने पातालविवरे इव दुष्कृतपुंसहशे जनान्तप्रचारवर्जिते एकस्मन्नपवरके प्रवेशिता । ततः किमत्र करोमि । अहो दैवस्य द्रविलसितम् ।

यस्य पुरः सुखदुःखं विस्मभादासोत् संस्मर्यमाणम् ।

सोऽपि वयस्यः बन्दित्वं गतः आस्तां किमन्यत् ॥ ३ ॥

(विचार करते हुए) ओह ! महारानी का द्वेष कितना गहरा है, क्योंकि जैसे ही उसे सही बात का पता चला तो उसने तुरन्त बन्दी बनाकर मित्र गौतम और वसन्ततिलका को अलग-अलग कारागारों में बन्द करवा दिया । और वह प्राणप्रिया तो (इस समय) शेरनी के पंजे में फैशी हुई हरिणी की तरह अनाथ-सी अन्तःपुर के किसी ऐसे तहखाने में रखवा दी गयी है; जहाँ किसी रास्ते से इदेश नहीं हो सकता और जो अधधार से भरे पातालकक्ष-सा है और ऐसा दिछ

रहा है कि किसी दुष्कर्मवाले पुण्य के परलोक जाने पर दूसरे मनुष्यों के संचार-रहित, निर्जन, अन्धकारयुक्त प्रदेश-सा हो। अब ऐसी स्थिति में क्या किया जाए।

ओह ! भारथ का खेल बड़ा हाँ दुःखदायी होता है।

ऐसा मित्र जिसके पास रहने पर विश्वास के कारण सुख या दुःख का स्मरण तक नहीं आ पाता हो वही जब बन्दी बना लिया गया तो दूसरी बात क्या हो सकती है ॥ ३ ॥

अविअ—

अहोंता अण्णस्स कह चि अ विसंवाअ रहिआ

पहुत्ता अम्हाणं कवड-णिवहा जं अवगआ ।

अदो देवीए जो हिअमहिरुद्धो अणुसओ

स ईसंमुक्को चे अणुणअ-सएहि वि वहिबं ॥ ४ ॥

(विचार्य)

सव्वसं कुसुमाउहस्स विसओ णेत्ताण पज्जत्तओ

अच्छेरस्स णवंकुरो रइरदालेहा सुहादीहिआ ।

णम्माणं उण कम्मणं रइ-कहा णिम्माण-जम्मत्थली

एकं जोव्वणजीवणं अवि उणो दीसेज्ज मुद्धा कहं ॥ ५ ॥

अपि च—अभवन्तोऽन्यस्मिन् कथमपि च विसंवादरहिताः प्रभूता अस्माकं कपटनिवहाः यदवगताः । अतो देव्याः यो हृदयमधिरुद्धोऽनुशयो स ईपन्मुक्त (इचेत्) अनुनयशतैरप्यधिकम् ॥ ५ ॥

सवंस्वं कुपुमायुधस्य विषयो नेत्रयोः पर्याप्तिः आशनर्यस्य नवाङ्कुरो रुचिरतालेखा सुधादोर्धिका । नर्मणां पुनः कार्मणां रतिकथानिर्माणजन्मस्थली एकं योवनजोवनमपि पुनः दृश्येत मुग्धा कथम् ॥ ५ ॥

और भी—किसी अन्य स्थान पर न हो सकने वाले तथा किसी भी स्थिति में असफल न हो सकने वाले कपट-व्यापारों को देवी ने समझ लिया था। इसी कारण उसके हृदय में वैरभाव जम गया। अब वही वैरभाव यदि किसी प्रकार अनेक अनुनयों (विश्वास आदि मृदु उपायों) से भी दूर किया जा सके तो अधिक अच्छा हो ॥ ५ ॥

(विचारकर) जो मदन का सर्वस्व माना जाता है, जो दृष्टि को आनंद देता है, आश्चर्य के नवीन अंकुर-सा जो दिखलाई देता है, जो सौन्दर्य की रेखा और अमृत को वापिका है, नर्म और विनोद का जो वशीकरण है, अनुरागमयी वाणी की जो उत्पत्तिभूमि है, योवन का जो एकमात्र जीवन है वही प्रिया अब फिर कैसे दिखलाई पड़े यही दुःख है ॥ ५ ॥

अहह ।

दाढ़त्तं विअ राहुणो ससिकला हंसिव्व मेहंतरं
माअंगस्स मुणालिअव्व वश्यं मुत्तव्व पंकुक्करं ।
तारा दारुणकेदुणो व्व उभरं छाआसुअ-गासदं
संपत्ता विअ रोहिणी पिअमा दुथं अवत्थं गआ ॥ ६ ॥

अहह । दृष्टानामिव राहोः शशिकला हंसीव मेघान्तरं मातङ्गस्य
मृणालिकेव वदनं मुक्तेव पञ्चोत्करम् । तारा दारुणकेतोरिवोदर छाया-
सुतग्रासतां सम्प्राप्तेव रोहिणी प्रियतमा दुस्थामवस्थां गता ॥ ६ ॥

अरे ! जो राहु की डाढ़ों में फौसी चन्द्रकला के समान, मेघों की ओट में आयी हुई हंसिनी-सी, हाथी के मुँह में पहुँची हुई कमलनाल के समान, कीचड़ में फूँस जाने वाली मोतियों की माला-सी, प्रलयकर धूमकेतु के उदर में पहुँचने वाले तारक के समान और राहु की ग्रास बन जाने वाली रोहिणी के समान मेरी वह प्रियतमा भी आज कष्ट (की अवस्था) में आ गयी है ॥ ६ ॥

(प्रदिश)

विद्वृषकः—भअ-ठेरभाव-परिवेविरंगओ
गरुअक्खुहा-खुहिअ-सव्वइंदिओ ।
अइ-तिण्हिआ-अहिअ-सुक्क-कंठओ
गमिओ म्हिं जाल-गथ-पक्षिवणो गइं ॥ ७ ॥

अवि अ—

णिच्चं विरोहिरीहं ममहि अंतेउरस्स दासीहं ।
देवीअ लहिअ आणं किं किण किअं अणणुरुओ ॥ ८ ॥

भयस्थविरभाव - परिवेपनशीलाज्ञकः गुरुकक्षुधाक्षुभितसर्वन्दिगः ।
अतितृष्णिकाधिकशुष्काधिकशुष्ककण्ठको गर्मितोऽस्मि जालगतपक्षिणो
गतिम् ॥ ७ ॥

अपि च । नित्यं विरोधशीलाभिर्मन्यन्तःपुरस्य दासीभिः । देव्याः
लब्ध्वा आज्ञां कि कि न कृतमननुरूपम् ॥ ८ ॥

(विदूषक का प्रवेश)

विदूषक (प्रवेशकर) भय और बुद्धापे के कारण मेरा शरीर काँप रहा है, जोरों से भूख लगने के कारण मेरी सारी इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो रही हैं और प्यास के लगने से गले के अधिक सूख जाने से मैं पिजरे में बन्द पक्षों की अवस्था को पहुँच गया हूँ ॥ ७ ॥

और—प्रतिदिन मेरा विरोध करने वाली अन्तःपुर की दासियाँ ने (अवसर पाकर) मुझे सताने की महारानी से आज्ञा पाकर मेरे अयोग्य क्या-क्या कार्य नहीं किया ॥ ८ ॥

संपदं उण ।

गुड-जोआ महुरिएर्हि पिउर्लेहि अज्ज पक्केहि ।
देवीआ मोदएर्हि मुहिदो ह्यि कओ गणाहिणाहो व्व ॥ ९ ॥

(पुरोऽवलोक्य) अं पिअवअस्सो विउणं विमणाअंतो चिठुदि । ता
उवसप्पामि । (उपसृत्य) जेदु पिअ-वअस्सो । वअस्स, दिठुआ एर्हि
चिअ पेत्तेहि पुणो वि दिहो सि ।

राजा—कहुं वअस्सो उअणओ । वअस्स, एत्य आसीअदु ।

(विदूषकस्तथा करोति)

राजा—वअस्स, अवि ते कुसलं ।

विदूषकः—केसरि-दड्हा-ऽडिओ फुरंतओ ठेर-हरिणो व्व ।
मुक्कोह्यि देव्व-जोआ इदो वरं केरिसं कुसलं ॥ १० ॥

साम्प्रतं पुनः । गुडयोगमधुरितैः पृथुलैरद्य पववैः । देव्या मोदकैः
सुखितोऽस्म कृतः गणाधिनाथ इव ॥ ९ ॥

अयं प्रियवयस्यः विगृणं विभन्नायमानस्तिष्ठति । तदुपसर्पामि । जयतु
प्रियवयस्यः । वयस्य, दिष्ठ्या एताभ्यामेव नेत्राभ्यां पुनरपि हष्टोऽसि ।

कथं वयस्यः उपनतः । वयस्य, अत्र आस्यताम् । वयस्य, अपि ते
कुशलम् ।

केसरिदंष्ट्रापतितः स्फुरन् स्थविरहरिण इव । मुक्तोऽस्म दैत्रयोगात्
इतः परं कीटृणं कुशलम् ॥ १० ।

और अब—आज ही बनाये गये गुड़-मिश्रण से मधुर स्वाद वाले एवं बड़े आकार
के मोदकों के द्वारा गणपति के समान मुझे अर्पण कर प्रसन्न किया गया ॥ ९ ॥

(सामने देखकर) यह मेरा प्रियमित्र (व्यर्थ के) दुःखों से दुःखी बना
दैठा है । तो अब मैं उसके पास जाता हूँ । (समीप जाकर) प्रियमित्र की जय
हो, संभाग्य है कि आज फिर तुम्हें इन्हीं नेत्रों से देखना मिल रहा है ।

राजा—अरे यह क्या ! मित्र था गया । आओ मित्र, यहाँ बैठो । (विदूषक
बैठ जाता है)

राजा—मित्र, कुशल-मंगल तो है आपकी ।

विदूषक—अरे ! मैं सिह की डाढ़ में फैसे बूढ़े हरिण की तरह आज सौभाग्य-
वश ही छूट सका हूँ तो इससे अधिक कुशलता और क्या होगी ॥ १० ॥

राजा—एवं णेदं ।

अवि पद्मप्रवत्थं सोअणिज्जं गआणं
पर विसम-दसाए संणिवाए तदो वि ।
पद्म-खण-अवत्था-लाहमेत्तं जणाणं
परमहिल-हणिज्जं होइ तं दुल्लहं च ॥ ११ ॥

विदूषकः—जहा भणदि पिअवअस्सो । जदो, .

मुक्तको वि तीअ एर्झि पुणो वि अन्त-गगहस्स संकाए ।

दृ-साद्दलो द जराए स्त्ररगस्त्रो उवगक्तो ह्यि ॥ १२ ॥

एवंन्विदम् । अपि प्रथमामवस्थां शोचनीयां परविषमदशायाः सन्निपाते ततोऽपि । प्रथमक्षणावस्थालाभमात्रं जनानां परममभिलपणीयं भवति तददुलंभञ्च ॥ ११ ॥

यथा भणते प्रियवयस्यः । यतः मुक्तोऽपि तयेदानीं पुनरपि आत्म-ग्रहस्य शङ्क्षया । अतिशिथिलोऽपि जरया सत्वरगमनः उपागतोऽस्मि ॥ १२ ॥

राजा—यैच्छा, ऐसा हो गया था । शोचनीय दशा में रहने वाले मनुष्यों को जब और भी कष्टमयी विषमदशा प्राप्त हो जाये तो वे अपनी पिछली दशा की प्राप्ति को भी जीवन का लाभ मानकर जब उसे ही चाहने लगते हैं पर तब वह भी दुर्लभ हो जाता है ॥ ११ ॥

विदूषक—प्रियमित्र ने जैसा कहा वही हुई । क्योंकि—यद्यपि अभी ही मैं उनके द्वारा छोड़ा गया हूँ परं फिर से पकड़ लिये जाने की आशंका और भय के कारण यद्यपि मैं बुझापे के कारण शिथिल-सा हो गया हूँ फिर भी यहाँ भागता हुआ था रहा हूँ ॥ १२ ॥

राजा—अचि जाणोअदि पिअभमाए का वि वत्ता ?

विदूषकः—सुणादु पिअवगस्सो । अज्ज देइ भअवदीद पव्वभराअ-कणआए अहिवाअणत्वं देवालअन्नि अव्वभंतरभग्नेण चरणेर्ह चेअ गआ ।

राजा—पव्वविसेसे अंण णिअमो क्खु देवीए । तदो तदो ।

विदूषकः—अह मंतेहि उवआरेहि भअवदि आराहिंव जअ भअवदि अंब, संक्षा-समादत्त-गटुच्छवुकिखत्त-हृथ्याइ-तिक्खत्त-णाणा-णहरावलगांबु-बाहुवक-रोलुग-गव्वखत्त-लक्खाहिलव्वखत्त मोत्तावली विवभमे, जलिअ-जलण-जाल-जालु-ज्जडालासुराहीस-मत्थिवक-पलहृथ्य-सूलग-सुभंत-सुभा-मरा-राइ-रत्तालि-संभार-संभा॒विआसंभवासेस-बम्हंड-खंड-व्वखए । अदिसिद-कर-वाल-णिगधाअ-खुद्वंत रत्तक्ख देवारि-राअट्टि-गंठो खणक्कार-कुप्पंत-सीहिद-उव्वभंत-फुफ्फाहिफालोदभावेलवी होंत-आसाम-अंगुत्तमे, मुह-कुहरमणित-आदीह जीहग - लीहुत-रत्तग - दीआसुराणीअ - जूहिद - कोलाललीलाइ-द्रम्मुक्क चंडृहासुत्तसंत-त्तिलोईणुदे दे जमो ॥ १३ ॥

अपि ज्ञायते प्रियतमायाः काऽपि वार्ता ? शृणोतु प्रियवयस्यः । अद्य देवी भगवत्याः पर्वतराजकन्यायारभिवादनार्थं देवालयेऽभ्यन्तरमार्गेण चरणाभ्यामेव गता ।

पर्वतिविशेषेऽयं नियमः खलु देव्याः । ततस्ततः । अथ मन्त्रैरुपचारैर्भगवतीमाराध्य—

जय भगवति अस्मि, सन्ध्यासमारब्धनृत्योत्सवोत्क्षमहस्तातितीक्षणान्तनानानरग्नावलग्नाम्बुद्धाहोत्करावलग्ननक्षत्रलक्षाभिलक्ष्यमाणमुक्तावलीविभ्रमे, ज्वलितज्वलन-ज्वालाजालोज्जटालासुराधीशमरितष्क-पर्यस्तशूलाग - शुभ्मच्छुभ्मामराणतिरक्तालिसम्भार - सम्भाविताशेषव्रह्माण्ड-खण्डक्षये । अतिशितकरवाल-निर्धार्ति - त्रुट्यद्रक्षकाक्षदेवारिराजा'स्थग्रन्थिखण्टकार-कुप्यत - सिहेन्द्रोद्भ्रान्तमुच्चलादिफालोदयापोडीभवदाश्यामाङ्गोत्तमे, मुख-कुहरकगच्छद्द-दोधंजिह्वाग्र-लिह्वद्रक्ताग्रवीतासुरानीव यूथेन्द्रकाढाललीला यितोन्मुक्तचण्डादृहासोत्त्रसत् त्रिलोकीनुते ते नमः ॥ १३ ॥

राजा—क्या तुम्हें प्रियतमा का कोई समाचार भी ज्ञात है ?

विद्वषक—प्रियमित्र, (उसे भी) सुनिये । आज भगवती पार्वती का दशंन-वन्दन करने के लिए अन्तःपुर के अन्दर के रास्ते से मन्दिर तक महारानी पैदल ही गयी ।

राजा—अच्छा । महारानी किसी विशेष पर पर यही नियम रखती हैं । तो फिर इसके बाद—

विद्वपक—तब महारानी ने मन्त्र एवं उपचारों से भगवतो की आराधना की और फिर जब—

हे भगवती अस्मे तुम्हारी जय हो, सन्ध्याकाल में आरम्भ किये गये नृत्योत्सव में ऊर उठायी गयी हाथ की नोकों में उनके तीखे नखों के आगे के भाग में उलझ जाने वाले मेघमङ्गलों में समाये असंख्य नक्षत्रों-सी लगने वाली मौक्किक-माला शोभा दिखा रही है । तुमने ही प्रज्वलित अग्नि की ज्वालाओं के समान ऊँची फैलने वाली जटाओं से युक्त असुराविप के मस्तक में तिरछा कर चुमोये गये त्रिशूल की नोक से प्रवाहित होने वाले शुभ्मासुर के रक्तमय मद्यसम्भार के

योग से सम्पूर्ण ब्रह्मण्ड खण्ड के नाग को सम्भव बनाया। अतितीव्री वारवलो तलबार के प्रहारों से टूटने वाली रक्तनेत्र दैत्यराज के शरोर की हड्डियों की गठानों पर खनखनाहट की ध्वनि होने से अधिक कुद्र होने वाले वाहन सिंहाविपति की ऊपर उछाली गयी पूँछ से व्याकुल हो जाने वाले आपके शिरोभूषण से मस्तक कुछ इयाम-वर्ण सा हो गया है। आपने अपनी मुखरूपी कन्दरा में चलने वाली लम्बी छाँड़ की नोक से बोठों को चाटते हुए प्रचण्ड अट्टहास कर अमुरों की सेना के नायकों से जो रक्तकीड़ा भी तो उससे भयशस्त्र त्रिलोक आपकी स्तुति करने लगा था। अतः ऐसी त्रिलोक से स्तुति की जाने वाली आप भगवती को मेरा नमस्कार ॥१३॥

एवं भणिअ परम-भत्ति-प्यवण-प्राणसा पणमिअ जाव पडिणि-
वट्टदि ताव केण वि अहिणव-मेह-गंभीरेण सद्वेण इअं गाहा पडिआ—

धर्मो पइव्वआणं उवअरणं णवर दइअस्स ।

बाला वि अगवराहं कअत्थणे एत्तिएण अणुरूपा ॥ १४ ॥

राजा—, सोल्लासम्) णहु कि पि संसारे असंभावणिज्जं णाम ।
तदो तदो ।

एवं भणित्वा परम-भक्तप्रवणवानसा प्रणम्य यावत् प्रतिनिवर्तते-
तावत् केनापि अभिनवमेघाम्भीरेण शब्देनेयं गाथा पठिता ।

धर्मः पतिव्रतानामुपचरणं केवलं दयितस्य ।

बालाप्यनपराधं कदथने एतावति नानुरूपा ॥ १४ ॥

न खलु किमपि संसारेऽसम्भावनीयं नाम । ततस्ततः ।

इस प्रकार कहकर और भक्तिपूर्ण अन्तःकरण से वन्दनाकर जब वह वपस आ रही थी तो उसी समय किसी नवाँन मेघ-सी गम्भीर ध्वनि में पढ़ी गयी यह गाथा उसे सुनाई पड़ी ।

अपने स्वामी की सर्वथा केवल सेवा करना ही पतिव्रता स्त्री का धर्म माना जाता है, इसलिये किसी निरपराध बाला को अकारण इतने पर क्लेश देना उचित नहीं है ॥ १४ ॥

राजा—(प्रसन्न होकर) सचमुच, संसार में असम्भावित कोई वात नहीं होती । अच्छा तो इमके बाद ।

विदूषकः—अहं तं सुणिइ कस्स इअं भणिइ ति णासीर-लोएण
सव्वदो णिरुइदे पढ़मदो णिज्जणीकए तत्थ देसे ण को वि उवलद्धो ।

राजा—तदो दिव्य-पुरिस-वअणेण तेण होअब्बं । तदो तदो ।

विदूषकः—तदो देवीए सिंगारमंजरीए तुए संगम-प्पडिबंध-परिहारं
चेअ गाहत्थं णिद्वारिय तदो अंतेउरं आआदमेत्ताए अहं वसंततिलगा अ
काराघरादो णिगमिदा जहान-पढ़मं अवतथं णीदा । सा वि सिंगारमंजरी
अत्तणो हृथेहिं आणइअ णहाण-प्पसाहण-विहिणा सविसेसं अणुगगहिदा ।
तदो अणंतरं आआच्छंतीए देवीए आणत्तो अहं एत्थ आगदोहिं ।

राजा—अहो अच्छरिअं अच्छरिअं ।

मज्जंतस्स महण्णवम्मि सहसा पोअस्स आसाअणं
अथयक्के वि महंधआर-क्कवलीभूअस्स दीवाअमो ।
कंडे संद्विअ-जीअणस्स अमआसारो सरीरंतरे
उज्जंतस्स अ मम्महेण दइआ-लाहस्स संभावणा ॥ १५ ॥

अथ तां श्रुत्वा कस्येयं भणितिरिति नासीरलोकेन सर्वंतो निरूपिते
प्रथमतो निर्जनौकृते तत्र देशे न कोऽप्युपलब्धः । ततः दिव्यपुरुषवचनेन
तेन भवितव्यम् । ततस्ततः ।

ततो देव्या श्रुङ्गारमञ्जर्यास्तिव सञ्जमप्रतिबन्धपरिहारमेव गाथार्थं
निर्धार्यं ततोऽन्तःपुरमागतमात्रयाङ्गं वसन्ततिलका च कारागृहान्निर्गमितो
ययाप्रथममवस्थां नीती । साऽपि श्रुङ्गारमञ्जरी आत्मना हस्ताभ्या-
मानीय स्नानप्रसाधनविधिना सविशेषमनुगृहीता । ततोऽनन्तरमागच्छन्त्या
देव्या आज्ञसोऽहमत्रागतोऽस्मि ।

अहो आश्चर्यमाश्चर्यम् । मज्जतो महार्णवे सहसा पोतम्य आसाद-
नमकाण्डेऽपि महान्धकारकवलीभूतस्य दीपागमः । कण्ठे संस्थित-
जीवनस्यामृतासारः शरीरान्तरे उद्यन्तः च मन्मथेन दयितालाभस्य
सम्भावना ॥ १५ ॥

विदूषक—फिर इसे सुनकर 'यह किसने कहा' ऐसा कहते हुए जब चारों

ओर उस निर्जन वन में सैनिकजन से तलाश करवाई गयी तो किसी भी स्थान पर कोई भी नहीं मिल पाया ।

राजा—यह शब्द किसी दिव्यपुरुष का होना चाहिए । अच्छा आगे बतलाओ ।

विद्वषक—तब इसके बाद महारानी ने उस गाथा के आशय पर विचार-कर 'शृंगारमञ्जरी' के महाराज से होने वाले मिलन में विघ्न ढालना उचित नहीं' ऐसा समझकर अन्तःपुर लौटते ही तुरन्त मुझे और वसन्ततिलका को कारागृह से छुड़वाकर अपनी पूर्व स्थिति में कर दिया । और उस शृंगारमञ्जरी को स्वयं अपने हाथों से उठाकर ले आयी और उसके स्नान एवं प्रनाधन को दिव्यपुरुष में करती हुई अनुगृहीत करने लगी । फिर महारानी ने भी यहाँ आने की बान बतलाने की मुझे आज्ञा दी तो मैं इस कार्य के लिए यहाँ आ गया ।

राजा—अरे, यह तो बड़ी आश्चर्य की बात हो गयी ।

जैसे महासागर में ढूबने वाले पुरुष को किसी रक्षक जहाज को सहना प्राप्ति हो जाये, धने अन्धेरे में खोये पुरुष को एकदम दीपक मिल जाये, प्राणों के कण्ठ में अवरुद्ध हो जाने पर शरीर के जीवन-हेतु अमृतवृष्टि हो जाये वैसी ही प्रहार के लिए उद्यत मदन के होने पर इस इष्ट प्रियतमा के लाभ को सम्भावना होना है ॥ १५ ॥

(ततः प्रविशति शृङ्गरमञ्जर्यानुगम्यमाना देवी वसन्ततिलका माधविके च)

देवी—(स्वगतम्)

पबंतपद्मिओ तहाणुणभेत्तए चावडो
मए तह उवेक्षिवओ पिअभमो कहेंतो पिअं ।
सअं-कग्र-अइकमं अहह संभरंतो अ तं
इमस्स वअणंबुअं कह विलोइउं तीरइ ॥ १६ ॥

पदान्तपतितस्तथानुनयमात्रके व्यापृतः मया तथोपेक्षितः प्रियनमः कथयन् प्रियम् । स्वयंकृतातिक्रममहह संस्मरन्त्या तद अस्य वदनाग्वुज कथं विलोकितुं तीयते ॥ १६ ॥

(तभी श्रृंगारमंजरी को साथ लिये हुई महारानी, वसन्ततिलका तथा माघविका का प्रवेश ।)

महारानी—(स्वगत) मेरे पैरों पर झुककर अनुनय में लगे हुए प्रियभाषी अपने स्वामी को मैंने जो इतनी उपेक्षा की थी इसी कारण स्वयं के द्वारा किये गये ऐसे अतिक्रमण का जब भी भान होता है तो फिर उन्हीं का मुखकमल अब देखने पर मेरी कैसी दशा होगी ॥ १६ ॥

वसन्ततिलका—इदो इदो एडु देवी ।

(सर्वा: परिक्रामन्ति)

शृङ्गारमञ्जरी—(स्वगतम्) णमो भअवदो देवस्स ।

सप्पफक्सं विडि सिहिसिहा-संणिहाणं व सोही-
जीहा-लेह्लिलहणमित्र जा कालऊडासणं व ।
दूरा अम्हं णअणमिलणं मणए सा वि एण्हं
अणोणेणं कअपरिवरा अत्तणा दंसणम्म ॥ १७ ॥

इत इतः एतु देवी । नमो भगवते दैवाय । सर्पस्पश्चाम् इव शिखिशिखा-
सन्निधानम् इव सिहीजिह्वा-लेखोल्लिलहनम् इव या कालकूटाशनमिव ।
दूरादस्मान्नयनमिलनं मन्यते साऽपीदानीम् अन्योन्येन कृतपरिकरा
आत्मना दर्शने ॥ १७ ॥

वसन्ततिलका—महारानीजी, इधर से आवें इधर से । (सभी धूमती हैं ।)

श्रृंगारमंजरी—(स्वगत) भाग्यदेव को नमस्कार । क्योंकि—जो हम दोनों
के दूर से किये गये नेत्रों के मिलन को सर्प-स्पश्च के समान, अग्नि की ज्वालाओं
के समीप जाने के समान, सिहिनी की जीभ से चाटने के समान और कालकूट
विष के भक्षण के समान अभी तक मानती रही है ॥ १७ ॥

राजा—(पुरोऽवलोक्य सपरितोषं स्वगतम्)

जइ वि अपेच्छिअ देर्वि ण पिआए दंसणं होइ ।

रुअं तहा वि दइआ विसओ णअणस्स सविसेसो ॥ १८ ॥

यद्यप्यप्रेक्ष्य देवीं न प्रियायाः दर्शनं भवति । रूपं तथापि दयितायाः
विषयः नयनयोः सविशेषः ॥ १८ ॥

राजा—(सामने देखकर प्रसन्न होते हुए । स्वगत) यद्यपि महारानी को
विना देखे प्रिया का दर्शन सम्भव नहीं है फिर भी प्रिया का विशिष्ट रूप भी नेत्र
का लक्ष्य बन रहा है ॥ १८ ॥

देवी—(उपसृत्य) जेदु जेदु अज्जउत्तो ।

राजा—(सादरं हस्ते गूहीत्वा) देवि, दिह्निआ आवदासि । आसीअदु

आसाइदो वअण-पुण्ण-सुहा-मऊह-
बिबावलोअण-रसो णअणेहिं एर्ण्ह ।
आअण्णणेण महुराणा सुजंपिआण
सोत्ताण होउ णवरं अमआहिसेझो ॥ १९ ॥

जयतु जयत्वायंपुत्रः । देवि, दिष्ठ्या आगतासि । आस्यतास् । आसादितो
वदनपूर्णसुधामयूख-बिम्बावलोकनरसो नयनाभ्यामिदानीम् । आकर्णनेन
मधुराणां सुजल्पितानां श्रोत्रयोभवतु केवलममृताभिषेकः ॥ १९ ॥

रानी—(समीप आकर) महाराज की जय हो ।

राजा—(आदर से हाथ मिलाते हुए) महारानी, आप अच्छी आयों ।
वैठिये । इस समय आने से आपके मुखरूपी पूर्णचन्द्र-बिम्ब के दर्शन का नेत्रों को
तो आनन्द मिल गया अब अपने मधुर भाषण को सुनाकर कानों में भी अमृत
का अभिषेक कर दीजिये ॥ १९ ॥

देवी—अज्जउत्त, इमर्स्ति अहम्नि इमं सिगारमंजरीं देवस्स उवहारं
करेमि ।

राजा—जहा आणवेदि देवी । जदो—

गेण्हइ देइब अत्थं करेइ णिगहं च तहा ।
इच्छामेत्ता अत्तो विहित्व लोओ पहुप्पंतो ॥ २० ॥
ता अणइकमणिज्जो देवीए णिओओ ।

आर्यपुत्र, अस्मिन्नहनि इमाम् शृङ्गारमञ्जरों देवस्योपहारं करोमि ।
यथाऽऽज्ञापयति देवो । यतः—

गृह्णाति ददाति चार्थं करोति निग्रहञ्च तथा ।

इच्छामात्रादासो विधिरिव लोकः प्रभवन् ॥ २० ॥

तदन्तिक्रमणीयो देव्या नियोगः ।

रानी—आर्यपुत्र, आज की इस (शुभ) वेला में शृंगारमञ्जरी को उपहार-स्वरूप आपको प्रदान कर रही हूँ ।

राजा—महारानी की जैसी भी आज्ञा हो । क्योंकि सत्ता के समर्थ परिचालक व्यक्ति भाग्य की तरह केवल इच्छामात्र से किसी वस्तु के ग्रहण करने, देने या निग्रह करने की (ही) विज्ञा देते हैं ॥ २० ॥

इसलिये महारानी के आदेश का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है ।

देवी—(नायिकायाः हस्तमादाय) वच्छे सिंगारमञ्जरि, एत्तिअपञ्जनं परिणअरोदीए तु ए वत्तिजनं आसी । अदो अवरं उण—

णिम्माहि भूसण-णिअंसण-संणिवेसं

इच्छावसा परिवर्णं पुण माणवेहि ।

जाआसि चन्द्रमुहि देव-कर-ग्रहेण

एर्ण्ह अहं विह तुमं वसुहा-सवत्ती ॥ २१ ॥

(इति राज्ञोऽप्यर्थति)

वत्स शृङ्गारमञ्जरार, एतावत्पर्यन्तं परिजनरीत्या तव वर्तमान-मासोत् । अतोऽपरं पुनः ।

निर्माहि भूषणनिवसनसन्निवेशम् इच्छावशात् परिजनं पुनराज्ञापय ।
जातासि चन्द्रमुखि देवकरग्रहेण इदानीमहमिव त्वं वसुधासपत्नी ॥ २१ ॥

रानी—(नायिका का हाथ लेकर) प्रिय वत्से शृंगारमञ्जरी, अभी तक मैंने तुझसे अपनी सेविका के समान पालन करते हुए व्यवहार रखा था । इसके बाद अब—हे चन्द्रमुखी, महाराज के साथ विवाह हो जाने के कारण तुम भी मेरी ही तरह इस पृथ्वी की सपत्नी बन गयी हो इसलिये अपनी इच्छा एवं आशा के अनुरूप यथेष्ट अलंकार एवं वस्त्रों को रखो और अपने सेवकों को कार्य के लिए आज्ञा देती रहो ॥ २१ ॥ (महाराज को अपेण करती है)

राजा—(गृहीत्वा स्वगतम्)

देवोए अपरितीसो पिया-विओओ अ एक-परिहासो ।

देवीए उण एं देतोअ समाहिं उहजं ॥ २२ ॥

देवी—गंधब्ब-विहिणा करीअदु परिणओ इमीए ।

राजा—जं देवी आणवेदि ।

(इति सर्वे यथोचितपरिणयसमाप्तिमन्त्रित्वं ।)

विदूषकः—भो वअस्स,

ठेरस्स उत्तम-उलस्स ममावि किंचि

अप्पाणुरुमिह दिज्जदु बम्हणस्य ।

मम्मेसु बंधण-विअद्वद्वण-जाअ-पीडा

तीरंति तेण हि रुआ अइ दूसहा वि ॥ २३ ॥

देव्या अपरितोषः प्रियावियोगश्चैकपरिहासः । देव्या पुनरेतां
ददत्या समाहितमुभयम् ॥ २२ ॥

गान्धवंविविना क्रियतां परिणयोऽस्याः । यदेव्याज्ञापयति ।

भो वयस्य, स्थविरस्य उत्तमकुलस्य ममापि (स्थविरायोत्तमकुलाय
महामपि) किञ्चिदात्मानुरूपमिह दीयतां ब्राह्मणस्य (ब्राह्मणाय) । मर्मेषु
बन्धनविकर्षणजातपीडा तीयंन्ते येन हि रुजः अतिदुःसहा अपि ॥ २३ ॥

राजा—(हाथ को ग्रहण करते हुए । स्वगत) जिन बातों ने महारानी का
असन्तोष और प्रिया का वियोग करवाया था महारानी ने स्वयं प्रदान करते
हुए इन दोनों ही बातों को अब एक साथ साध लिया है ॥ २२ ॥

रानी—इसके साथ आप शीघ्र गान्धवं-विवाह कर लीजिये ।

राजा—महारानी की जैसी आज्ञा हो ।

(सभी यथोचित विवाह-विधि को पूर्ण करवाते हैं ।)

विदूषक—अरे मित्र, उत्तम कुल में उत्तम मुझ बृद्ध ब्राह्मण को भी इस समय

आत्मानुरूप कोई वस्तु प्रदान कीजिये जिससे शरीर के मर्मस्थान पर किये गये वन्धन, कर्षण आदि से होने वाली दुःसह पीड़ाओं को सहने की व्यथा पूर्णतः समाप्त हो जाये ॥ २३ ॥

राजा—(विहृत्य) ण हु बम्हण-परितोसेण विणा कम्माइ संगाइं हौंति । (इति हस्तादाकृष्य चलयमर्पयति)

विदूषकः—इमिणा रथण-चलएण पसाहिअ-करो गेहं दाव गच्छामि । (इति किञ्चिद् गत्वा प्रतिनिवृत्य) एसो अमच्चो चारुभूदी अणुहूअ-विवाहुच्छवं देवं वद्धावइदुं आअदो ।

न खलु द्राह्यणपरितोषेण विना कर्माणि साङ्गानि भवन्ति ।

अनेन रत्नवलयेन प्रसाधितकरः गृहं तावद् गच्छामि । एषोऽमात्य-चारुभूतिरनुभूतविवाहोत्सवं देवं वर्धपियितुमागतः ।

राजा—(हँसकर) सचमुच, जब तक द्राह्यण का सन्तोष न हो जाये तब तक कर्म साङ्ग या पूर्ण नहीं माने जाते हैं । (अपने हाथों से स्वर्ण-कंकण निकाल-कर दे देता है)

विदूषक—तो इस रत्नजडित कंकण को पहिनकर मैं अपने घर जाता हूँ । (योड़ा-सा आगे चलकर और फिर वापस लोटकर) अरे, इधर तो अमात्य चारुभूति यहीं विवाहोत्सव के उपलक्ष में महाराज का अभिनन्दन करने के लिए स्वयं आ रहे हैं ।

(प्रविश्य)

अमात्यः—देव, दिद्विग्ना वद्धसि चक्कवत्ति-पएण ।

राजा—अमच्च, एत्थ आसिथ जहावुत्तं कहेहि ।

अमात्यः—जं देवो आणवेदि । (इति उपविश्य) देव, अहं एवदा देवस्स दिसा-विअ-प्पसंगेण एर्सिस्स महाकंतारे परिभृत्य-सेणिओ भमंतो महेसिणो मअंगस्स अस्समं पविहु । तेण अणुगहिओ अ जाव मुहुत्तं चिद्वामि ताव अहिणव-मइलेण रक्खसेण गवण-मग्गेण हीरंतीं हा ताव हा अंब त्ति पलवंती तडिमा-भासुरं कणं पेच्छामो । तदो अणुकंपापरेण तेण भअवदा मअंगेण रोस-पर्वत-दिद्वि-णिवाम-णिबभच्छिओ रक्खसो तीए सह

तथ्य पडिओ । पडिअमेत्तेण अ परिच्छत्त-रक्खस-रुवेण दिट्ठवेसाहरण-परिविकदेण उत्तं-भववं, अहं अवराह-विसेस-णिवंधणेण भववदीए गोरीए सावेण रक्खसीहूओ मणिमाली नाम पारिसओ । एसिअ-पजंतो अ मे सावो अज्ज भववदो दिट्ठिपाएण णिउत्तो । ता संभावेहि मं कहणादिट्ठिए त्ति चरणेसुं पणमिअ दिट्ठो । कण्णआ-बुत्तंतं तेण पुच्छओ इअं अवंतिणा-हस्स जडाकेदुणो भववदीए गोरीए पसादोकआ कण्णअ त्ति उत्तवंतो । तदो भववदा उत्तं-एदाए भट्टा चक्कवत्ती हुविस्सदि । एकं उण इअं किंचि कालं उवरोहं पाविग अहिमदं वरं लहिस्सदि त्ति ।

देव दिश्या वर्धसे चक्रवर्तिपदन । अमात्य, अत्रासित्वा यथावृत्तं कथय । यदेव आज्ञापयति । देव, अहमेकदा देवस्य दिग्विजयप्रसङ्गेनैक-स्मिन् महाकान्तारे परिभ्रष्टसैनिको भ्रमन् महर्षमंतङ्गस्याश्रमं प्रविष्टः, तेनानुगृहोतश्च यावन्मृहूत्तं तिष्ठामि तावदभिनवमलिनेन राक्षसेन गगनमार्गेण ह्लियमाणां न्ना तात हा अम्बेति प्रलपन्तीं तडिद्भासुरां कन्यां प्रेक्षामहे । तताऽनुकम्मापरेण तेन भगवता मतङ्गेन रोषपरुषद्विष्टिनिपात-निर्भवितो राक्षसस्तया सह तत्र पतितः । पतितमात्रेण च परित्यक्त-राक्षसरूपेण दिव्यवेषाभरणपरिष्कृतेनोक्तम्—भगवन्, अहमपराधविशेष-निवन्धनेन भगवत्याः गौर्याः शापेन राक्षसीभूतो मणिमाली नाम पारिषदः । एतावत्पर्यन्तश्च मे शापोऽद्य भगवतो हृषिपातेन निवृत्तः । तत् सम्भावय मां करुणाटष्ट्येति चरणेषु प्रणम्य स्थितः । कन्यकावृत्तान्तं तेन पृष्टः इय-मवन्तिनाथस्य जटाकेतोः भगवत्या गौर्या प्रसादोकृता कन्येत्युक्तवान् । ततो भगवतोक्तम्—एतस्याः भर्ता चक्रवर्ती भविष्यति । एकं पुनरियं किञ्चित्कालमुपरोधं प्राप्यानिमत्त वरं लप्स्यते इति ।

(अमात्य प्रवेश करते हैं)

अमात्य—(प्रवेशकर) महाराज, सौभाग्यवश आपको जो अव चक्रवर्तित्व प्राप्त हो रहा है उसका मैं अभिनन्दन करता हूँ ।

राजा—अमात्य, यहाँ बैठिये और इस सम्बन्ध की बातें भी बतलाइये ।

अमात्य—महाराज की जैसी आज्ञा हो । (बैठते हुए) महाराज, पहिले मैं

एक बार जब महाराज के दिग्विजय के कार्यवश एक घने जंगल में अपने सैनिकों से छिटककर अलग हो चूमते हुए मैं महामुनि मतञ्ज्ञ के आश्रम में पहुँच गया तो उन्होंने कृपापूर्वक विश्राम के लिए मुझे बहीं रोक लिया। तभी मैंने देखा कि आकाशमार्ग में एक अतिशय काला वर्णमाला राक्षस एक विजली-सी चमकती हुई गोरवर्ण की कन्या को-जो 'हे पिताजी, हाय मौ' चिल्लाती थी-हरण कर ले जा रहा है। तब भगवान मतंग मुनि ने दयालु होकर ज्योंहीं उस राक्षस को क्रोध से कठोर दृष्टि डालते हुए देखा तो वह राक्षस उस कन्या के साथ बहीं नीचे आ गिरा। पृथ्वी पर गिरते ही उसका राक्षस-रूप चला गया और वह एक दिव्य-स्वरूप वस्त्र और अलंकार को धारण किये हुए मुनि से आकर कहने लगा-'भगवन् मैं एक विशेष अपराध के कारण भगवती गौरी के शापवश राक्षस बन गया था। मैं भगवती पार्वती का पार्वद मणिमाली हूँ जिसका शाप आपके दृष्टिपात तक था और अब जो समाप्त हो चुका है।' ऐसा कहकर वह उनके चरणों में गिर गया। उसी ने इस कन्या के विषय में बतलाया कि-यह कन्या अवन्तिराज महाराज जटाकेतु की गौरी ने प्रसादरूप प्रदान की थी। यह सुनकर मतंग ऋषि बोले-'इसका स्वामी चक्रवर्ती सम्राट् होगा।' केवल बीच में यह कुछ समय तक जीवन में कष्ट और बन्धन प्राप्त करने के बाद अपने अभीष्ट पति को प्राप्त कर लेगी।

देवी—(स्वगतम्) अहो अइवकमो। मम आवृत्तस्स अवंति-पहणो
दुर्वादा, ण पहवामि लज्जाए मुहं दावेऽ।

अमात्यः—तदो देवस्स कओ तं कण्णाणं मए भववं पतिथदो तह त्ति
आणत्तिवंतो। सो वि पारिसको इमीअ को वि उवआरो तुए कादव्वो त्ति
भववदा णिउत्तो तदो पउत्थो। सा अ कण्णामा मए देवीए समप्पिद त्ति
एदाए पउत्तो।

देवी—अमच्च, एत्तिअ-कालं अप्पआसणेण अणुताव-भाअणं अहं
णिम्मिआ।

अमात्यः—देवि, ण एदं अणुताव-द्वाणं। एरिसं उवरोहं भववदो
वअणेण अवस्सं-भाविणं चितिअ मए एवं अणुद्विअं।

अहो अतिक्रमः । ममावुत्तस्यावन्तिपतेदुद्दिता, न प्रभवामि लज्जया
मुखं दर्शयितम् । ततो देवस्य कृते एतां कन्यां भगवान् प्रार्थितस्तथेति
आज्ञासवान् । सोऽपि पारिषदः एतस्याः कोऽप्युपकारस्त्वया कर्त्तव्येति
भगवता नियुक्तस्तदा प्रवृत्तः । सा च कन्यका मया देव्यै समर्पितेत्येतस्याः
प्रवृत्तिः ।

अमात्य, एतावत्कालमप्रकाशेनानुतापभाजनमहं निर्मिता । देवि,
नैतदनुतापस्थानम् । ईद्वग्मुपरोधं भगवतो वचनेनावश्यंभाविनं चिन्त-
यित्वा मयैवमनुष्ठितम् ।

रानी—(स्वगत) अरे यह मैंने कैसा अकार्यरूप धर्म का उल्लंघन कर
डाला । यह तो मेरे बहनोई अवन्तिराज की पुत्री ही है । अब तो मैं इसे लज्जा
के कारण अपना मुँह भी दिखलाने योग्य नहीं रही ।

अमात्य—तब मैंने उन्हीं ऋषि से इस कन्या की अपने महाराज के लिए
याचना कर ली और उन्होंने इसकी स्वीकृति भी दे दी । तब उसी शिवपार्यद ने
मतंग ऋषि की प्रेरणा से कहा कि वह इस कन्या का भी किसी अच्छे कार्य द्वारा
उपकार अवश्य करेगा । तब इस कन्या को मैं अपने साथ ले आया और इसे महा-
रानी को समर्पित कर दिया । इस कन्या के प्राप्त होने की यही सारी
बात है ।

रानी—मन्त्रीजी, इतने समय तक इसका (परिचय) ज्ञान न होने से मैं
ही इसके सन्ताप में कारण बन गयी ।

अमात्य—महारानीजी, इसमें सन्ताप देने के कारण की तो कोई बात ही
नहीं है । क्योंकि मुनि के भविष्य-कथन के अनुसार इसे कष्ट तो प्राप्त होना ही
था और ऐसा जानकर ही मैंने ऐसा किया भी ।

देवी—वच्छे सिंगारमंजरि, अत्त-जण-भूआ वि तुमं एत्तिं समजं
अपरिणाणेण परिअणोऽइं वत्तिआ सि । ता खमीअदु अदिक्कमो ।
(इत्यालिङ्गन्ति)

वत्से शृङ्गारमञ्जरि, आत्मजनभूताऽपि त्वमेतावत्समयमपरिणामेन परिजनोचितं वर्तितासि । तत् क्षम्यतामतिक्रमः ।

रानी—वत्से श्रुंगारमंजरी, यद्यपि तुम्हें तो मैंने अपना ही समझा था परन्तु फिर भी परिचय के न रहने के कारण विना किसी दुर्भाव के अपने सेवक के समान तुमसे व्यवहार कर रखा गया था । इसलिये मेरे इस अतिक्रमण को अब तुम क्षमा कर देना ।

शृङ्गारमञ्जरी—केरिसो अदिवकमो संभावीअदि । जदो अदोष्पहुदि देवीए सविसेसं परिअण-समागारेण अणुभग्किअव्वा ।

राजा—देवी-घरे गाहा-समुच्चारणं पि जाणे तस्त पारिसअस्स वाचारो ।

अमात्यः—एवं जहा आणवेदि महाराओ । अवि अ देअ, इदो अवरं पि किं ते पिअं करेज्ज ।

राजा—आणा भूमी-पई-सिरमणी-मंजरी-मज़क्ष-पारा
पारावारावहि-वसुमङ्ग-भू-विभंगेवक-सज्जा ।

एणच्छोए उ णआ ठेरकण्णा वरस्स
जे अण्णाआ किमवरमिदो जं तुए साहिंण ॥ २४ ॥

कीहशाऽतक्रमः सम्भाव्यते । यतोऽव्यप्रभृति देव्याः सविशेषं परिजन-समाचारेणानुगृहातव्या ।

देवीगृहे गाथासमुच्चारणमपि जाने तस्य पारिषदस्य व्यापारः । एवं यथाज्ञापयात महाराजः । अपि च देव, इतो परमपि किन्ते प्रियं कुर्मः

आजाभूमिपति-शिरोमणि-मञ्जरीमध्यपारा पारावारावधिवसुमती भ्रूविभञ्जेरक्साध्या । एणाक्ष्याः तनुतास्थैर्यं कन्या वरस्य ये अज्ञाताः किमपरमितः यत्त्वया साधतं न ॥ २४ ॥

श्रुंगारमंजरी—इसमें कोई अतिक्रमण सम्भावित भी नहीं हो सकता है जब कि आज स्वयं आपने ही विशेषरूप में अपने परिवार-सा मुक्षसे व्यवहार करते हुए मुक्ष पर ही यह कृपा भी की है ।

राजा—देवी के मन्दिर में गाया का कहना भी उसी पार्षद के द्वारा किया गया कार्य था ऐसा प्रतीत होता है ।

अमात्य—हाँ महाराज ठीक ही आज्ञा दे रहे हैं । और भी अब मैं आपका अन्य कौन-सा प्रियकार्य सम्पादित करूँ ।

राजा—(इस समय) मेरी आज्ञा राजाओं के मुकुटों की मणियों की प्रभामंजरी के अन्तिम छोर पर पहुँच रही है, भ्रुकुटी के एक भज्जमात्र से समुद्रपर्यन्त पृथ्वी साध्य बन चुकी है । इस मृगाक्षी के द्वारा अभी तक अज्ञात एवं योग्य कन्या को वर रूप में प्रदान किया गया । अतः इससे अधिक और क्या इष्ट हो सकता है जिसे आपने नहीं साधा हो ॥ २४ ॥

तह वि एवं भोदु ।

आहोहा हरिआण होंतु बहलत्तेऽग्निधूमाउला
धर्मे संतु णिए णिए अविरजं सब्वे वि वर्णस्त्समा ।
आणंदो परिवद्धदउ प्पडिलवं लोआण सब्वुत्तरो
अण्णाणं गुणराइणो सहिअआ जीअंतु लोए चिरं ॥ २५ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति चतुर्थं यवनिकान्तरम्

इतिश्रीशृङ्गारमञ्जरीशाटकं समाप्तम् ।

तथाप्येवं भवतु—आभोगा हरितां भवन्तु बहलत्तेजोग्निधूमाकुलाः
धर्मे सन्तु निजे निजेऽविरतं सर्वेषि वर्णाश्रमाः आनन्दः परिवर्धतां प्रतिल
लोकानां सर्वोत्तरोऽन्येषां गुणरागिणः सहृदयाः जीवन्तु लोकेचिरम् ॥२५॥

॥ इति चतुर्थं यवनिकान्तरम् ॥ श्रीशृङ्गारमञ्जरीसट्टक समाप्त ।

इति श्रीबाबूलाल शुक्ल, शास्त्रप्रणीता शृङ्गारमञ्जरीसट्टकस्य
संस्कृतच्छायानिदर्शनी पञ्जिकाल्पाब्याख्या समाप्ता ।
शुभमस्तु ।

फिर भी ऐसा हो कि-

अतिशय प्रदीप देजवाली अग्नि के (पवित्र यज्ञीय) धूम से दिशाओं के आयाम व्याप्त होते रहें, वर्ण एवं आश्रम अपने धर्म पर स्थिर रहें, प्रजाजन का आनन्द प्रतिक्षण उत्तरोत्तर संवर्द्धनशील रहे तथा दूसरों के गुणों में अनुराग रखने वाले सहृदय चिरकाल तक जीवित रहें ॥ २५ ॥

(सभी जाते हैं)

चतुर्थं यदनिकान्तर सम्पूर्णं । विश्वेश्वरपाण्डेयविरचित शृंगारमंजरीसट्टकम्
की श्रीबाबूलालशुक्लशास्त्रप्रणीत हिन्दी व्याख्या
'सुरभि' समाप्त । शुभम् ।

प्राकृत-शब्दानुक्रमणिका

अंगंतर-१ अङ्गान्तर	अत्थ-१.२७ अर्थः
अंतर-१.१ अन्तः	अत्तरिअं-३.२७ अत्तरितम्
अ उव्व-१ अपूर्व	अत्ताणा-४ अत्राणा
अइरिच्चइ-३.५० अतिरिच्चयते	अदिसिद-४.१३ अर्तशित
अ प्रो-४.४ अतः	अदिसीद ४ अतिशीत
अकंड-१.२५ अकाण्ड	अप्पा-२.३७ आत्मा
अख्खवाअ-१.१२ अक्षपादः	अवभमुवल्लह-१.१६ अभ्रमुवल्लभ
अख्खओ-१.१२ अक्षतः	अबभुवाओ-१.२६ अभ्युपायः
अच्छउ-२.१० आस्ताम्	अमबमठह-१.२४ अमूतमयूहः
अच्चरिअं-१ आश्चर्यम्	अग्रिट्टद्वुम-२ अरिष्टद्वुम
अज्ज-१.१३ अद्य, आर्य	अलाअ-३.३१ अलात्
अद्विअ-१.२ आकृष्य	अवज्जणिज्ज-१.२५ अर्जनीयम्
अणल-३.२ अनल	अवंतर-१.४ अवान्तर
अणिल-३.२ अनिल	अवलाव-१ अपलापः
अणहिजाअत्तण-१ अनभिजातत्त्वम्	अव्वण-१.१२ अव्रणम्
अणहिण-१ अनभिज्ञ	अववरअ ४ अपवारक
अणिद्वारिअ-१ अनिर्वारित	अविच्छेअ-३.६१ अविच्छेद
अणुक्कोसो-३.१३ अनुक्रोशः	अव्वाहअ-१.१२ अव्याहृत
अणुतावः-४ अनुतापः	असमागम-१.२० असमागम
अणूहूअ-२.३४ अनुभूत	असोअ-१.३५ अशोक
अणुसओ-४.४ अनुशयः	असिअ-३.३९ असित
अण्णवो-४.१५ अर्णवः	अहर-४.२ अघरः
अण्णो-१.४ अन्यः	अह-१.२३ अथ, अहः
अतहा-२ १२ अतथा	अहिणिविट्ट-१.७ अभिनिविष्ट

अहिणिवेस-१ अभिनिवेश
 अहिमअ-४ अभिमत
 अहिणेद्वुं-१.१० अभिनेतुम्
 अहिले-१.१२ अखिले
 अवहाण-१ अवधानम्
 अंगांतर-१ अङ्गान्तर
 अंतअ-३.३७ अन्तकः
 अंवर-१.१६ अम्बरम्
 अहर-१.१७ अधर
 अंभोअ-३.१५ अम्भोजम्
 अवहिद-२ अवहित
 अहिणअ-१ अभिनय, अभिनव
 आचक्षीअदि-१.१२ आचक्षयते
 आअमण-१ आगमन
 आथटु-३.४५ आकृष्ट
 आअम-१.१० आगम
 आढटु-१.२ आरब्ध
 आपुंछइ-१.३५ आप्रोच्छति
 आमोइणा-२.२० आमोदिना
 आउत्त-४ आवृत्त
 आसामुह-३.१५ आशामुख
 आसुअ-३.४८ आशुगः
 आसंधो-१.२ आश्वासः, आसन्धः
 आलावो-१ आलापः
 आणा-१.३८ आज्ञा
 इट्टु-१ इष्ट
 इत्य-३ अत्र
 इण-१ इदम्

इअर-२.२९ इतर
 इयरा-२.२९ इतरा
 इहिं-१.१४ अत्र
 इसं-४.४४ ईषत्
 ईसो-१ ईशः
 ईसा-१.१ ईर्ष्या
 उअ-३.४१ पश्य
 उइद-२ उचितम्
 उवकंप-१.२ उत्कम्पः
 उगगाह-२.२३ उद्ग्राह
 उच्चारिद-१ उच्चारित
 उज्जुअं-२ ऋजुकम्
 उज्जाण-२ उद्यानम्
 उज्जिभइ-१.१९ उज्जृभते
 उण-१.३४ पुनः
 उण्मिअ-३.२९ उन्नमित
 उणोद-१ उन्नीत
 उत्त-१ उक्त
 उत्ति-१.११ उक्तिः
 उत्तमम-२.२० उत्ताम्य
 उवअरण-१.७ उपकरण, उपचरण
 उवमाण-१ उपमान
 उवकृहण-२.१० उपगूहन
 उवक्कंत-१ उपक्रान्त
 उवक्षित्त-१ उपक्षित्तम्
 उवट्टाण-१ उपस्थान
 उववणम्-१.२६ उपवनम्
 उवण्णत्य-१ उपन्यस्त

- उववण्णनम्-१.२ उपवन
 उवरोह-४ उपरोध
 उवहअ-२.३५ उपहत
 उण्ह-१.२८ उण्ण
 उण्हकिरण-३.२५ उण्ण-किरण
 उवगअ-१ उपगत
 उवलखिवअ १ उपलक्षित
 उवाओ-२ उपायः
 उवरम-३ उपरम
 उविभजइ-१ उद्भिद्यते
 एदं-१.३६ एतत्
 एणो ४.२४ एणः
 एण्ह-३ इदानीम्
 एयारिस-१ एतादृश
 एरिसो-१ ईदृशः
 ओइण्ण-२ अवतीर्णः
 ओचिदी-१ ओचिती
 ओलुरगो-४.१३ अवलग्नः
 ओलो-१.२२ आद्रः
 कइ-१ कविः
 कअत्थण-३.५६ कदर्थनम्
 कक्कस-३.५६ कर्कशः
 कडक्ख-१.२२ कटाक्ष
 कम्मण-४.५ कार्मणम्
 कब्ब-१.२ काब्यम्
 कव्वारिहणा-१.२ काव्याहणा
 कवोल-१.१९ कपोल
 कलहावेस-१.१ कलहावेश
- कलाव-१ कलापः
 कामिणी-१.१३ कामिनी
 किदी-१.९ कृतिः
 किज्जंत-२.४ कुर्वन्
 कुअ-२.१६ कुचो
 कत्थूरिआ-२.१५ कस्तूरिका
 कुसुमसु-२.२ कुसुमेषुः
 कुहरअ-४.२ कुहरकः
 कहं-१ कथम्
 काउं कादुं-२.३० कर्तुम्
 ख्लेबो-३.५३ खेदः
 गइंद-१.१६ गजेन्द्र
 गत्त-१.२ गात्रम्
 गत्तलदा-२.५१ गात्रलता
 गंठि-२ ग्रन्थि
 गंधफलिआ-२.१८ गन्धफलिका
 गंडत्थली-२.२ गण्डस्थली
 गिब्बाणाहिव-३.१५ गीर्वाणाचिप
 गोअमत्तण-१ गौतमत्वम्
 गुलिअ-२.१५ गुलिका
 घणसार-२.५ घनसार
 घेत्तून-१.२ गृहीत्वा
 चक्की-१.१२ चक्की
 चमक्किदी-१.१० चमक्कितिः
 चरमो-१ चरमः
 चव्वण-१.१२ चर्वण
 चावं-१.२ चापम्
 चालण-२ चालनम्

चिच्चअ-१.२ एव
 च्चेअ-१ एव
 चंदण-२.१७ चन्दनम्
 चंद-३.३ चन्द्रः
 चरितुं-३ चरितुम्
 चक्कवट्टि-१.१२ चक्रवर्ती
 चिकिललं-३.१० पङ्क्खिलं
 छडा-३ छटा
 छब्भासा-१ पङ्खभाषा
 छइलङ्ग-१.७ चतुरः, विद्वः
 छप्पअमाला-२.१४ पट्टपदमाला
 छाआसुअ-४.६ छायासुतः, शनैश्चंरः
 इत्यर्थः
 छित्तम्हि-२.३८ स्पृष्टास्मि
 छिद्द-२ छिद्रः
 छिवंति-२ १६ स्पृशन्ति
 छीर-२ क्षीरम्
 छेअ (य)-३.५ छेकः
 छिवमु-१ स्पृश
 जंपिद-२.३६ जल्पित
 जह-२.२९ यदि
 जई-२.३१ यतः
 जग- जगत्
 जणअ-१.२९ जनकः
 जणअंतणेण-२.२९ जनकत्वेन
 जणणी-१.१० जननी
 जत्थ-२ यत्र
 जयं-२ जगत्

जरंतसरपंडुर-१.१९ जरन्तशर पाण्डुर
 जलगिव्वाण-३.१५ जलगीर्वाण
 जह, जहा-१.३२ यथा
 जहिच्छं-१ यथेष्टम्
 जाआ-१.३४ जात
 जाइ-१ जातिः
 जाणिरि-१.५ ज्ञानशीले
 जाया- जाता, जाया
 जाला-१.४० ज्वाला
 जाव-२ यावत्
 जालिअंगोए-१.३९ ज्वालिताङ्गधाः
 जोआ-२.३६ ज्या
 जीहा-२.३६, ३.१५ जिह्वा
 जुत्ति- युक्तिः
 जूड-१.४० जूदः
 जूरझ-४.२ दूयते
 जेदु-१ जयतु
 जेउ-१ जेतुम्
 जोओ-२.२६ योगः
 जोणहा-२ ज्योत्स्ना
 ज्ञणि-२ ज्ञवनिः
 ज्ञति-२ ज्ञटिति
 ज्ञाणं-३ ज्ञानम्
 ज्ञुण-२ ज्ञवनिः
 ठिअ, ठिद-१.२ स्थित
 ठाण-१.२३ स्थानम्
 ठेरभाव-२ स्थविरभावः
 ठवेजज-१.३० स्थापयेत्

डज्जाइ-१.२८ दह्यते
 ण-२.१ न
 णअ-१.१ नवः
 ण-एनं, ननु
 णच्चं-१.४० नृत्यम्
 णम्म-४.५ नर्म
 णवरं-२.७ ४.१९ केवलम्
 णवत्था-१ अनवस्था
 णाआअ-१.३ नायकः
 णाइआ-२ नायिका
 णाण-२.३७ ज्ञान
 णाऊं-१ ज्ञातुम्
 णाहि-१ नाभिः
 णावेती-१ ज्ञापयन्ती
 णाम-२ नाम
 णासीर-२.१९ नासीर
 णिसेहो-१ निषेध
 णिओओ-१ नियोगः
 णिअंतण-१ नियन्त्रण
 णिणाओ-२.१९ निनादः
 णिगग्हो-२ निग्रहः
 णिगधाआ-४.१३ निर्धातः
 णिट्टुआ-१ निष्ठित
 णिहा, णिच्छा-१.१४ निद्रा
 णिय, णिअ-३ निज
 णिडालं, णिलाडं-१ ललाटम्
 णिणाओ-१.३१ निर्णयः
 णिप्पत्ति-२.२ निष्पत्ति

णिणोदा-३ निर्णीता
णिवंधन-१.२ निवन्धन
णिवंधो-२ निवन्धः
णिवीओ-२.३२ निपीतः
णिसिद्धत्या-१ निसृष्टार्था
णीसासा-१.२८ निश्वासाः
णुदा-४.१३ नुना
तंबोल-१ ताम्बूल
तद्वचण-तन्त्रणम्
तणु-३ तनु
तंत-१.५ तन्त्र
तडिआ-भासुर-४. तडित्-भास्वरः,
भासुरः
तणुजर-३.४० तनुजवरः
तत्थ-१.६ तत्र
तओ-तदो-१ ततः
तवण-२.१६ तपनः
तह-२.३१ तथा
ता-२ तावत्, तहि
तादो-११.२३ तातः
तारिच्छ, तारिस-२.१२, ३.८ तादृश
ताव-२, तावत्
तारावल्लह-१,१ तारावल्लम्
त्तासेण-४.१ त्रासेन
तिओ-३ स्त्रियः
तिउररिउ-१.४० त्रिपुररिषुः
तिलअ-२ तिलक
तिही-२.११ तिथिः

तिद्वय (अ) ण-त्रिभुवनम्
 तुण्णं-३.५४ तूण्णम्
 तुम्हाणं-२ युष्माकम्
 तुरियदु-२ त्वरयतु
 त्ति-२.१९ इति
 तीरइ-२.२९ तीर्यते
 त्थली-१.१९ स्थली
 त्थण-थण-१.१९ स्तनम्
 थोअं-२ स्तोकम्
 थिमअ-२.१५ स्तिमितम्
 दंसण-१.२५ दर्शन
 दख्खणच्च-२.१६ दक्षिणात्याः
 दहु-२.१७ दरध
 दर्प-२ दर्पः
 दरिसण-१ दर्शन
 दलण-दलन
 दह-२.१२ हृदः
 दावइसं-१ दर्शयिष्यामि
 हिआ-३.१४ हिजः
 दिट्ठिआ-१ दिष्ट्या
 दिण-दिनम्
 दिण्णं-२.२४ दत्त
 दिव्व-दिव्य
 दिसा-१.२४ दिशा
 दीसइ-१.३६ दृश्यते
 दीहर-१.२३ दीर्घ
 दीहिआ-४.५ दीर्घिका

दुरेह-२.५० द्विरेकः
 दुव्विलसिद-४ दुर्विलसित
 दुल्लख-१.१ दुर्लक्ष्य
 दुल्लह-१.१७ दुर्लभ
 दुहा-द्विधा
 दूह-१ दूती
 दूमिज्जंत-१ दूयमान
 देउल-बकुल
 देओ, देवो-१ देवः
 देई-२ देवो
 देस-२.११ देशः
 द्रोणि-२.३ द्रोणिः
 दो-२.२३ द्वि
 दोस-१ दोष
 दुम-२ द्रुमः
 धरिअ-१.२१ धृत
 धणो-धन्यः, धान्यम्
 धुत्ति-धूर्ता
 न्हाण-स्नानम्
 पअत्त-११.३० प्रयत्न
 पइदी-२ प्रकृतिः
 पइणणयणा-१.३८ प्रकोणनयना
 पइट्टा-प्रतिष्ठा, प्रविष्ठा
 पउज्-प्रतियुज्
 पउत्त-१ प्रवृत्तः
 प्पओहरत्यबणअं-२.१ पयोघरस्तव-
 कताम्
 पओओ-२ प्रयोगः

- | | |
|---------------------------------|----------------------------|
| पउत्ति-१ प्रवृत्ति | परिपूर्ति-१.८ परिपूर्ति |
| पक्कतो-१ प्रकान्तः | परितुट्टि-१ परितुष्टि |
| पअडेइ-२ प्रकटयति | परिमुहिग-३.२३ परिमुक्ति |
| पच्चम-१ प्रत्ययः | परिवर्मित-३.२३ परिवर्मित |
| पच्चूस-प्रत्यूषः | परिहरिय-१.३९ परिहृत्य |
| पच्चख्ल-प्रत्यक्ष | पल्लवण-१ पल्लवन |
| पच्चुगिण-१ १.१७ प्रत्युद्गीर्णः | पल्हत्या-२.३ पर्यस्ता |
| पञ्जवसिआ-१ १.७ पर्यवसिता | पसमिच्छिअ-२.२४ प्रसमीक्ष्य |
| पञ्जाणत-१ १ पर्यानित | प्यसुत्त-१.१६ प्रसुत्त |
| पढमो-२ प्रथमः | प्यसूण-१.३ प्रसून |
| पङ्डिच्छ-२ प्रतीक्षः | पंकुकर-४.६ पङ्कोत्करः |
| पङ्डिलंहण-१.१८ प्रतिलम्भन | पंचेसु-पञ्चेषु |
| पङ्डिसिट्ट-३ प्रतिषिद्धः | पहिअ-२.२१ पथिक |
| पङ्डिहभ-३.४८ प्रतिहृतः | पारिसअ-१ पारिषद |
| पङ्डिवाअण-१ प्रतिपादनम् | पाण-प्राण |
| पत्थावो-१ प्रस्तावः | पाणियल-पाणितल |
| पम्म-१.८ पद्मम् | पाडिज्जंतो-२ प्रतीत्यमानः |
| पम्मिणी-३.६३ पथिनी | पाहाइअ-प्राभातिक |
| पबल-प्रबल | पाय-१.२१ पाद |
| पमुझद-१.२ प्रमुदित | पालेमि-पालयामि |
| पत्त-पत्र-प्राप्त | पाबग-पावक |
| पराअ-१.८ पराग | पावीअदि-२ प्रायैत |
| परामिस-३.५५ परामृश् | पिअ-२ प्रिय, पिक |
| परावल्लिअ-१.२४ परावल्य (?) | पिआ-१.३ प्रिया |
| पवंचो-२ प्रपञ्चः | पिआमह-२.४१ पित्तामहः |
| परिकम्म-३.१० परिकर्म | पिईरुअ-२.२० पिकीरुतम् |
| परिख्लण-२ परीक्षण | पीइ-प्रीतिः |
| परिणटिअ-१.१० परिनिष्ठित | पीइप्पय-प्रीतिप्रदः |

पीडिअ-पीडित	प्पहु-२ प्रभु
पीण-पीन	प्पारंभ-प्रारम्भ
पुड-पूट	प्परोह-३.२४ प्ररोह
पुणो-पुनः	प्पसत्ति-प्रसत्ति:
पुण्ण, पुन्न-पुण्ण	प्पसूनसमअं-१.३ प्रसूनसमयम्
पुत्त-१.३२ पुत्र	प्पाइअ-१.३ प्राकृत
पुण्णिमा-पूण्णिमा	प्पुष्पाउहो-१.२ पुष्पायुधः
पुप्प-पुष्प	प्पुडं-स्फुटम्
पुप्काउहो-१.२ पुष्पायुधः	फरिम, फंस-१.२८ स्पर्श
पुरओ, पुरदो-पुरतः	फलिआ-२ १८ फलिका, फलिता
पुहइ-२ पृथ्वी	फुल्लइ-फुल्लति
पुरिस-पुरुष	फुल्लिआ-फुल्लिता
पुव्व, पूव्व-पूर्व	फुरिइ-१ स्फुरित
पूअण-२.१८ पूजन	वंक-२.६ वक्र
पेच्छहे-१.३ प्रेक्षक्षब्दम्	वउल-बकुल
पेसिद-प्रेषित	बह्य-१.१८ ब्रह्म
प्पओअअ-१.२ प्रयोजक	बह्मण-ब्रह्मण
प्पणअ-१.२५ प्रणय	बलरिउ-३.२३ बलरिपुः
प्पणअण-१.१२ प्रणयन	बहुमअ-१.३ बहुमत
प्पणाल-प्रणाल	बालत्तण-बालत्व
प्पबंध-प्रबन्ध	बाहुज्ञरा-१.३५ बाष्पोकरः
प्पआसणिज्ज-२ प्रंकाशनीयम्	वाहर-वहि
प्पभाह-प्रभावैः	बिहोसिआ-१.२५ विभीषिका
प्पभदि-प्रभुति	बीओ-१.३८ द्वितीयः
प्पवेस-प्रवेश	बुहवरा-१.१० बुधवराः
प्पसाय-प्रसादः	भगुर-१ भंगुर
प्पहाअ-१ प्रभात, प्रभाव	भइण-भगिनो
प्पहार-प्रहार	भट्टा-२ भर्त्ता

भणिइचक्क—१.१२ भपितिचक्क	मङ्गह—१ मयूख
भर—४.१ स्मर	मरग—३ मार्गम्
भण—भण	मरगांड—२.३७ मन्नानि
भणसु—भण	मरगण—मार्गण
भणिदुं—भणितुम्	मच्च—मत्य
भद्र—भद्रम्	मज्ज्ञ—मध्य
भवण—भवन	मण—१.२३ मनाक्, मनः
भादि, हादि—भाति	मणीसिथ—३.५० मनोषित
(विभादि, पडिभादि पडिहादि प्रभृति)	मण्डण—मण्डनम्
भाय—भाव, भाग	मत्त, मेत्त—मात्रम्
भासमाणा—भाषमाणा	मत्तंडअ—३.६० मार्तण्डकः
भासा—१.५ भाषा	मत्थअ—मस्तकम्
भिगच्छडा—१.२ भृज्जच्छटा	मत्थिव—४.३ मस्तिष्क
भिउडी—१ भूकुटि	महुअर—मधुकरः
भित्तूण—भित्वा	महुव्वअ—३.२४ मधुव्रतः
भीय—भीत	मन्नेसि—मन्यसे
भय—भूत	मंत—मन्त्र
बुवण—मुवनम्	मयंक, मयंग—मृगाङ्कः
मोओ—२.२६ भोगः	मयण—मदनः
सोदि—भवति, भवति	मम्मह—२.२२ मन्मथ
भूषण—भूषणम्	मयरद्धय—मकरध्वजः
भोयण—भोजनम्	मलयायल—मलयाचलः
भमंति—भ्रमन्ति	महमहिय—सुरभित
भसल—२.२० भ्रमर	महाराओ—महाराजः
भग्गुत्तरो—२.२३ भग्नोत्तरः	महोदय—२.२८ महोदयः, उत्सवः
मं—माम्	महु—मधु
मंदो—३.१७ मन्दः (शनैश्वरः)	महुअरिआ—मधुकरिका
मउल—मुकुल	महघ्व—१.२० महार्व

मावंग-४.६ मातङ्गः	रइ-१.३ रतिः
माउलो-मातुलः	रयइ-रचयति
माणसविक्षेहोहो-१ मानस-विकोभः	रच्छा-रक्षा
माणो-मानः	रत्तालि-४.१३ रक्तालिः
माणिणि-मानिनी	रम्म-रम्य
मारुद-माश्रतः	रथ-रत
मालइ-मालती	रथण-रत्नम्
माहप्पं-माहात्म्यम्	रथणा-रचना
मिच्छा-मिथ्या	रथणी-रजनी
मिट्ठ-मिष्ठ	रसणा-२.१४ रसना, रशना
मिणाल-मृणाल	रसेड-३.५३ रसयतु
मिथ-मृगः	रहस्स-रहस्य
मिलइ-मिलति	राइ-रात्रिः
मिलाणदा-१.१९ म्लानता	राउल-राजकुलम्
मिषा, मिस-निषात्	राज, राय-राजः
मुक्क-मुक्क	रूबं-१.१२ रूप
मुखो-मूखः	रइ-रचिः
मुट्ठि-मुष्ठि:	रुहिर-रुधिरः
मुत्त-मुक्त	रेहा-रेखा
मुण-२.४ जानीहि	रोविद-रोपित
मुणिजजइ-१.४ ज्ञायते	रसेड-३.५३ रसयतु
मुद्दा-मुद्दा	रुआ-४.२३ रुज्, रुजा
मुहो-मुखम्	रिछोलिआ-२.१३ श्रेणिः (देशी)
मुहंभाअ-१.३६ मुखाभ्नोजम्	लग-लगनः
माआ-३.१५ मोचा	लच्छ, लच्छी-१.७ लक्ष्मीः
मोण-मौनं	लहसि-लमसे
मोरो-मयूरः	लडहो-१.२२ मुकुभार
रअ-२.५ रजः	लहु-३ लघु

शब्दानुक्रमणिका

लासिअ-१.३ लासित
 लावण्ण-लावण्यम्
 लाह-१.१७ लाभ
 लिहिअ-लिखित
 लेहो-लेखः
 लोओ, लोयो-लोकः
 लोयणं-लोचनम्
 लोहो-लोभः
 लोवामुद्दा-२.१६ लोपामुद्दा
 वंस-१ वंशः
 व्व-इव
 वंजुल-२.४० वञ्जुलः
 वअस्स-१ वयस्य
 वइअर-१ व्यतिकर
 वक्षोरुद्ध-१.३६ वक्षोरुद्धो
 वरगण-वलगनं
 वट्टण-वर्तनम्
 व्वण-१.१२ व्रणः
 वत्ति-१.११ व्यक्ति
 वत्त-१.१२ वक्त्रम्
 वत्ता-१.३६ वार्ता
 वराग-वराकः
 वराइ-१ वराकी
 वरीअथि-२ व्रियन्ते
 वरोरु-३.४ वरोरु
 वलक्ष्मा-२.१३ वलक्ष्मा
 वलिअ-१.२५ वलित
 वसंत-१.१ वसन्

वसुंधरा-३.२३ वसुन्धरा
 वंजुल-२.४० वञ्जुलः
 वसण-वसनम्
 वहं-२.१६ वघम्
 वहू-वधूः
 वाअस-२ वायस
 वाआ-१ वाचा, वाङ्
 वाओ-२.३४ वादः
 वाडिआ-वाटिका
 वामा-२.१६ वामा
 वारण-२ वारण
 वाल-३.१० व्यालः
 वावडो-४.१६ व्यापूरः
 वावार-३.६२ व्यापारः
 वाहि-२ व्याधिः
 वि-२.२ व्यपि
 विअड्डा-२ विदधता
 विअलदा-३.४३ विकलता
 विआर-१.१७ विकार, विचार
 विउण-४ विगुण
 विउणिअ-१.२१ विगुणित
 विउल-विपुल
 विक्कम-विक्रम
 विक्किद-विक्रीत
 विस्त्राअ-विस्थात
 विचित्ता-विचित्रा
 विज्जति-२.९ विद्वन्ते
 विज्ञा-२.२३ विद्या

विच्छिति-विच्छिति
 विज्ञू-विद्युत्
 विजूरसि-२ २८ विज्ञायसे
 विण्णावओ-१.१७ विज्ञापकः
 विण्णाण-१ विज्ञानम्, विज्ञातम्
 विट्ठि-वृष्टिः
 विण्टा-विनष्टा
 विणा-विना
 विदूसअ-१.३ विदूषकः
 विद्वेस-४ विद्वेषः
 विहृप्ति-२ वृहस्पति
 विष्प-विप्रः
 विष्पइण्ण-१.४० विष्पलेण्णम्
 विष्पलंभ, विष्पलंह-१.४० विष्पलम्भः
 विष्फुडो-विस्फुटः
 विष्फुडंता-२.१६ विष्फुरन्तः
 विभमो-विभ्रमः
 विबुहो-१ विबुधः
 विभाया-विभागा
 विमणत्तण-१ विमनस्कता
 विवत्ति-३ विपत्ति
 विवाअ-२ विवाद
 विख्याअ-२ विख्यातम्
 विविणवीही-३.२० विपिनवीथी
 विवरोअ-२.२२ विपरीतं
 विविह-विविध
 विवेअ-विवेक
 विसंकिरी-२.८ विशंकनशीला

विस-विष
 विसाल-विशाल
 विसेसो-विशेषः
 विहाअ-१.९ विभावः, विभागः
 विहाण-विधान
 वीसास-२ विश्वासम्
 विहि-विधि
 विहुर-३.५० विधुरः
 वेअणाउलो-१.३ वेदनाकुलः
 वेज्ज-१.१८ वेद
 वेवंत-वेपत
 वेविर-१.३५ वेतनशीलः
 व्व-इव
 वेसाणर-३ वैश्वानरः
 सं-स्वम्
 संकिउं-१.२५ शङ्कुतुम्
 संकिद-शङ्कुत
 संकुयिय-सङ्कुचित
 संतदो-३.४६ सन्ततः
 संदाव-१.२० सन्तापः
 संदस-सन्देश
 संणिवेस-२.१ सन्निवेश
 संझा-१ सन्ध्या
 संपत्ता-सम्प्राप्त
 संपदाय-२ सम्प्रदाय
 संभर-१.३२ (सम् स्मृ) संस्मर
 संमीलिद-सम्मीलित
 संवाओ-१ संवाद

- | | |
|------------------------|------------------------|
| सथ-१.३० शत | सहेदि-सहते |
| संवृद्ध-संवृत | सामच्छ-१ सामर्थ्यम् |
| सञ्चाण-शयन | सावरगह-२.२१ सावग्रह |
| सइत्त-१ सतोत्त्व | साभाइआ-१.१० सामाजिकाः |
| सरग-सर्ग | सामि-स्वामिन् |
| सच्चं-सत्यम् | सावग्रहा-२.२१ सावग्रहो |
| सट्टां-१ सट्टक | सावहाण-सावधान |
| सक्कार-१.१४ सत्कार | सारिच्छ-१ सदृश |
| सणाह-सनाथ | साहा शाखा |
| सणोह-स्नेह | साहार-२.२१ सहार |
| सत्त-१.१३ सप्त, | साहु-साधु |
| सव्वाव-सद्वाव | साहेह-१.३१ साधयति |
| समत्त-१.१७ सप्तस्त | सिट्टु-सृष्टि |
| समुद्द-समुद्र | सिद्धलीआर-१ शियिलीकार |
| समत्थ-१.१ समर्थ | सिज्जदि-सिद्धयति |
| सयं-स्वयम् | सिविण-स्वप्न |
| सयल-सकल | सिविणिअ-१.२७ स्वप्नकः |
| सरअ-१.२२ शरद् | सिलीमुह-२.१५ शिलीमुख |
| सरिस सदृश | मिहा १.१ शिखा |
| सलाहिंजंत-१.१ श्लाघमान | सिजिणी-२.१३ शिङ्जिनी |
| सलाहेद-१ श्लाघते | सोय शीत |
| सव्व-सर्व | सुआ, सुहा-१.३७ सुधा |
| सवह-१.३० शपथ | सुओ-१ सुतः, शुकः |
| ससंग-शशाङ्क | सुण्ण-१.९० शून्य |
| सामअ-१.१९ श्वसित | सुव्वंति-३.२२ श्रून्ते |
| ससहर-शशधरः | सुरंहि-सुरभि |
| सहल-सफलम् | सुवण्ण-सुवर्ण |
| सहि-सखि | सुहं-सुखम् |

सुहवा (या)-१.३६ सुभगा	सोहिरी-१ शोभनशीला
सुकिद-१.२० सुकृत	हृत्थ-हस्त
सुहेल्लि-२.१० सुखकेलि:	हरइ-हरति
सुहबर-सुखकर	हला-सखी
सुहाणिहि-१.२२ सुधानिधि:	हरिय-४.२५ हरित
सुंभामराराइ-३.१३ शुम्भामराराति	हसिअ-१ हसितम्
सेअंवु-१.१ स्वेदाम्बु	हाला-मदिरा
सेय-स्वेद	हिअअ-१ हृदयम्
सेवग-१.१६ सेवक	हिअबदिठुं-१ हृदयदृष्टम्
सोत्त-४.२ शोत्रम्, शोतः	ही-खेदे
सोत्तिवाअण-२ स्वस्तिवाचनम्	हीअदि-२ हौयते
सोय-शोक	हु-निर्दारणे निष्ठये च
सोविदल्ल-२.१३ सौविदल्लः	हुआसो-२.४ हृताशः
सोहग-सीभाग्य	हेदुणा-१ हेतुना
सोहा-शोमा	

संकेत टिप्पणी :—शब्दानुक्रमणिका में प्रथम अंक यवनिकान्तर की संख्या को तथा द्वितीय अंक पद्ध संख्या को दिखलाता है। केवल एक अंक होने पर यवनिकान्तर समझना चाहिए।

पद्मानुक्रमणिका

अकंडभिलए जणे -१७
 अच्छउ णाम -३७
 अग्ने अहं जह जह -८९
 अत्यम्मि दुचिस्संते -१८
 अत्थाणं असंताणं वि -९, ११
 अत्थेण उण्हकिरणस्स -८२
 अण्णोण्ण-गोअर -६९
 अण्णोण्णाहिमुह -८०
 अणुऊलं आवरिदं -
 अप्पाणुरुव ० १२
 अम्हाणं पडिउलं ० ७१
 अम्हं तिराहरण -९८
 असे जेत्तिअवेत्ते -७१
 अवि दिहभ-असेसं -८७
 अवि बंदित्तण -७८
 अविबुहविभीसिआइं -५१
 अवि पढ़ममवत्यं -१०६
 अह करबलेण -१६
 अहिअ विअसिएहिं -५९
 अहिअं वि मणीसिए -९२
 अहोंता अण्णस्सं -१०३
 आजम्मं परतंयदा -९६
 आबहूनं आकीडं -४
 आणाए विहिणो -२९

आणा भूमिपईसिर -१२०
 आमोबलोसल्ल -८२
 आलोबविरहिआणं -८६
 आसाइदो ववणपुण -११३
 आहोआ हरिआण होंडु -१२१
 इत्थीआण विमु -३२
 ईसा-गुंफिअमाण -१
 इलंता कमलदला -८०
 उज्जाणम्मि डिटुजा -३९
 उम्मलचंपन -४१
 एकंपइगत्त -९३
 एकावेक्खण -६८
 एण्ह च सा मधण -६५
 एण्ह सुंदरसिदुवार -६५
 एण्ह पि पावणिज्जे -४६
 एदं तं चिअ -२८
 एदस्स उज्जागे -१९
 एदे चंदणरुक्ख -४२
 एदाहिं दाहिणे उण -८९
 एसो विलक्खणो -८७
 कधूररासिविगुणी -४३
 करबलघरिअ -१५
 कंचणकेदइपल्लव -३४
 कि पि पएहि -८६

केवद्वालमल्ली-१००
 केसरिद्वाभड्डो-१०६
 गवणसरिआइसोत्ते-११
 गंडत्यलीकरबले-३४
 गाढ़धकारगहणे-८५
 गुच्छेहि सपबोहर-४४
 गुडजोअमढुरिएहि-१०५
 मेणहइ देइव अत्यं-११६
 चावं पुप्पमवं-२
 जइ को वि-७६
 जइ वि अपेच्छभ-११२
 जइ वि ण करेइ-९३
 जइ वि ण संगो ५८
 जइ वि सविसेस-५७
 जइ वि होई ण-२९
 जस्स कए आसासो ६०
 जस्स कए उत्तमसि-५४
 जस्स पुरो सुहदुक्खं-१०२
 जरंतसरपंडुरा-१६
 जराए अम्हाण-८३
 जलहरगज्जिभ-४३
 जीआ कुंतलसंचएण-६१
 जूडे मुक्के-३१
 जोण्हाए सरिसा-७४
 जो तोए अव-३३
 ठेरस्स उत्तमउल्लस्स-११५
 ण गर्णेति इट्ट-६८
 णहु वत्तिविसेस-६

णजजंते समविसमा-८३
 णाणारूवकइत्तण ७
 णाम च्चव ण-१८
 णिअजणमिलणे-
 णिच्चं विरोहिहीहिं-१०४
 णीओ जेण पिआमहो-६६
 णीलुप्पलच्छी-९७
 णेत्तेसुं ण हि-७३
 णेत्ताइं मुहचंद-१०१
 णिम्माहि भूसण-११४
 तस्स सुझों तस्स च्चव-६
 तिमिरस्स बट्टणं वा-९२
 तीए जह वि-२६
 तीए महबुव-३६
 तीए होउ ण वा-१९
 तुसार णिअरो-७४
 तुह दंसणसंदीविअ-३०
 तुह पेच्छणेण-३४
 तुह संगमतणाए-७९
 तुहाण जत्थरइ-८८
 तुम्हे वंकविवोहा-३५
 दाढतं विव राहुणो-१०४
 दीसंति दाहिण-४५
 देवस्स हिअबहरण-२५
 देईए अणुरोहा-९६
 देईए अपरितोसो-११५
 देवं अवेक्षिभ-९०
 दो तिर्णिं वि अहाइ-४७

धर्मो पढ़व आणं - १०९
 धावइ पुरओ पुरओ - ८७
 पअंतपडिओ - १११
 पढ़मविरही ण - ९१
 पणमिअ मुहबंतं - ९५
 परावलिअ-आणणा - १७
 परिणथपणसप्पाआ - ८०
 पाणिथलेण समप्पिथ - ६१
 पाणेसेण अदंसणो - ३५
 पिअबणमिलणे - ८५
 पुत्तसिरफरिसा - २१
 पुच्चं पि दंसण - ५९
 फुरइ ण परितावो - ७२
 बद्धो गुणेहि पछमं - ९१
 बहुविहकला - ६
 बाहुभरो वि - २७
 बाहुज्जरेण - ९५
 भाडेरभाथ - १०४
 भासाविसेसजाणिरि - ४
 भिगावलीफुरिअ - ७९
 मगं व उण्मिथ - ८४
 मगाइ दो वि - ६२
 मज्जंतस्स महण - ११०
 मज्ज कए भण्हूदो - ९०
 मज्जे लसंति - ८१
 महुमासस्स वलखा - ३८
 मुक्को वि तीए - १०६
 माहवीण महुलग - ४१

मुद्धत्तणं पढमसाहस - ८६
 रइ-भवण-णावणं - २
 रइ पावए ण - ८५
 लंकालंकारवामा - ४२
 लडह-कुसुमदाम - १६
 वणदेइवंतेउर - ११
 वहंतु विवुहामुहा - ६९
 वावारंतरसत्ती - ९९
 वामा अह भुव - ८९
 वासंतिआ मउल - ४०
 विज्जंति एत्य - ३६
 विज्जो विणिगयहो वा - ५३
 विज्जाटुणे सबले - ५
 विणाणं पसमिच्छ - ८८
 विणाणं बहुआलं - ५७
 वोसंभसंभव - ७०
 सबलजणणेत - ८४
 सबलभुवण - ८१
 सबल वि मए पबत्य - २७
 सबसो वि सेविअंतो ८३
 संकावसुम्मुलिवएहि - ६४
 संज्ञासमाढत्त - १०७
 संपत्तजमफलओ १३
 सप्पफंसविअ - ११२
 सब्बसं कुसुमाउहस्स - १०३
 सरिसेसु वि - ३
 सबणाण अमवपारण - ८८
 साहेइ कस्स जोओ - ५२

१४०

सिविणभदसा ८
सिंगारमंजरीए २७
सुधडिदसमत ६
सुंदरि पेम्मविसेसो-९९

सेहालिबा कुसुम १४
हृथफक्षसमवेण-१०१
हिअबदइवस्स १५
होउ मधणो कमत्थो ७५

१
२
३
४
५

